ISSN : 2231-0509
वर्ष 18/अंक 2/मार्च-अप्रैल, 2016

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बेंगलूरु के सहयोग से प्रकाशित

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

वर्ष 18/अंक 2/मार्च-अप्रैल, 2016

प्रधान संपादक रोहित धनकर

संपादक विश्वंभर

प्रमोद पाठक

प्रबंधक रीना दास

कला पक्ष रामकिशन अडिग

कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क

शिक्षा विमर्श

दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,

जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान

फोन : (0141) 2750230, 2750310

मो. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)

ई मेलः shikshavimarsh@gmail.com

वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	**300**	**450**
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें)

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय 3
❑ प्रमोद पाठक

शिक्षा का समाजशास्त्र
शिक्षा और भारत की वर्गीय संरचना 5
❑ अमन मदान

व्याख्यान
ज्ञान के निर्माण व उत्पादन पर शिक्षाशास्त्र का प्रभाव 12
❑ रोहित धनकर

शोध
धारावाहिक, बच्चे और टेलीविजनः एक अंतःक्रिया 17
❑ मिली भटनागर

अनुभव
एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XIX आपका शुक्रिया 25
❑ फ़राह फ़ारूखी

संदर्भ
शिक्षा को लेकर कुछ विचार 29
❑ रिचा चौहान, जया मिश्रा एवं क्रिस्टोफर खाल्खो

पुस्तक समीक्षा
भूगोल लोगों के बारे में होता है 33
❑ मनीष जैन

परख
शिक्षक का मूल्यांकनः एक पेचिदा प्रश्न 36
❑ शिवरतन थानवी

अनुभव
यह कैसा सम्मान है? 38
❑ महेश कुमार शर्मा

बजट सार
शिक्षा का अधिकार एवं केन्द्रीय बजटः 2016-17 42
❑ नेसार अहमद

अनुभव
कितना कुछ सिखाते हैं बच्चे 44
❑ दिलिप चुघ

मुख्य आवरण चित्रः सीरियन कलाकार निज़ार अली बद्र का वर्तमान विस्थापन की स्थितियों को दर्शाता इंस्टॉलेशन

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा श्री राधे एन्टरप्राइजेज, एफ-23-सी 5, मालवीय नगर, जयपुर-302017 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खोनागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

संपादकीय

शिक्षा भावी जीवन की तैयारी होती है। इसलिए शिक्षा की परिकल्पना में वर्तमान के साथ-साथ भविष्य की कल्पना भी हमेशा जुड़ी रहती है। इस भविष्योन्मुखता के बगैर शिक्षा का कारोबार किया जाना मुश्किल है। शिक्षा से जुड़े लोग शिक्षा के जरिए समाज के भविष्य का सपना देखने वाले लोग होते हैं। एक ऐसा सपना जिसे वे साकार करना चाहते हैं। अपने समाज, लोगों के जीवन में घटित होते देखना चाहते हैं। इस मायने में शिक्षा भविष्य के प्रति आशावान लोगों का कारोबार है। शिक्षा का कोई भी उपक्रम बगैर भविष्य की कल्पना के पूरा होना मुश्किल है। इसलिए शिक्षा को लेकर चलने वाली बहसें, खींचतान सब उस भावी सपने को लेकर भी होती हैं जिसे लोग या लोगों के समूह अपने-अपने लिए देखना चाहते हैं। यह खींचतान और तीखी हो जाती है जब हम अपने सपने को दूसरों द्वारा देखा जाना भी तय करने लगते हैं और यहीं नहीं रुकते बल्कि उनके सपने को गढ़ने लगते हैं। यही वह वजह है जो शिक्षा को राजनैतिक आकांक्षाओं का केंद्र बनाती है और किताबों के पन्नों से लेकर शैक्षिक संस्थानों व सड़कों तक राजनैतिक तूफान उठ खड़े होते हैं। यह बात जहां एक तरफ शिक्षा की अहमियत को दिखाती है वहीं इस वजह से शिक्षा को नुकसान होने की संभावना भी उतनी ही बढ़ जाती है।

एक बड़ा नुकसान हम शिक्षा के वैचारिक आग्रह के एक साधन के तौर पर इस्तेमाल हो जाने के खतरे में देख सकते हैं। यह खतरा हमारे जैसे विविधतापूर्ण समाज में और बढ़ जाता है क्योंकि अलग-अलग समाजों, समुदायों, व्यक्तियों के वैचारिक आग्रह एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। इन आग्रहों पर टिकी उनकी भविष्य की कल्पना व सपने भी अलग-अलग हो सकते हैं और यह उनके बीच आपसी टकराहट की वजह बन सकती है। ऐसे में हमारे पास एक रास्ता यह बचता है कि हम सब अपने लिए एक साझा भविष्य की कल्पना करें, एक साझा सपना गढ़ें। किन्तु एक सवाल यह है कि उस साझेपन का वैचारिक आधार क्या हो? क्योंकि शिक्षा वैचारिक आग्रहों से मुक्त नहीं हो सकती। हम जैसे ही यह सवाल उठाते हैं हमारे सामने तुरंत परिस्थिति का सवाल उठ खड़ा होता है और वह यह कि शिक्षा किन परिस्थितियों में? व किन परिस्थितियों की निर्मिति के लिए?

परिस्थितियों के जो संदर्भ हमारे सामने हैं उनमें से एक विकल्प यह हो सकता है कि बहुसंख्यकों के वैचारिक आग्रह को स्वीकार लिया जाए। किन्तु इससे अल्पसंख्यकों के साथ हम न्याय नहीं कर पाते और हमारे देश में बहुसंख्यक आबादी के भीतर भी भारी विविधता मौजूद है। ऐसे में खुद उनके लिए किसी एक वैचारिक आग्रह को आधार बनाना मुश्किल खड़ी करने वाला कदम होगा। दूसरा विकल्प यह है कि सभी के वैचारिक आग्रहों को जगह दी जाए। किन्तु इसमें समाज के ताने-बाने के टुकड़ों में बंट जाने का खतरा है। क्योंकि हमारे देश में इतनी विविधता है कि उसमें एक-दूसरे से लगभग सर्वथा भिन्न सांस्कृतिक मान्यताओं वाले समाज व समुदाय मौजूद हैं। इसे हम पहनावे के एक उदाहरण से समझ सकते हैं। हो सकता है एक समुदाय में साड़ी पहनने को बेहतर माना जाता हो जबकि दूसरे समुदाय में सलवार कमीज पहनने को। और यह भी संभव है कि दोनों अपनी-अपनी संस्कृति में दूसरे की इन पोषाकों को कम बेहतर मानते हों। यह तो सिर्फ एक उदाहरण है, ऐसी सैकड़ों चीजें होंगी जिन पर टकराहटें सामने आएं। हमारे देश के संदर्भ में एक और विकल्प हमारे पास है जिसे हमने स्वतंत्रता के बाद अपने लिए चुना है और वह है एक स्वायत्त व लोकतांत्रिक समाज के रूप में अपने को विकसित करने का वैचारिक आग्रह। चूंकि स्वतंत्रता के संघर्ष में लिंग, जाति, उम्र, वर्ग आदि से परे समाज के सभी तरह के लोगों का प्रतिनिधित्व रहा है और अपने देश को स्वायत्त व लोकतांत्रिक देश बनाने का सपना चुनने की एक बड़ी वजह यह रही है कि उसमें सबकी भागीदारी रहे।

यह बात हमें एक साझा भविष्य व सपना बुनने का सूत्र देती है। अपने साझेपन को इस तरह परिभाषित करते ही हमारे सामने ऐसी शिक्षा की जरूरत आन खड़ी होती है जो इसे हासिल करने में समर्थ नागरिक तैयार करती हो।

जरा गौर करें तो यहां हमने लोकतांत्रिक व्यवस्था को अधिनायकवाद, राजतंत्र या किसी धर्म, नस्ल आदि के आधार पर स्थापित व्यवस्थाओं के ऊपर एक वरीयता दे दी है। मगर इस वरीयता देने का कारण क्या है? इस सवाल का सामना करने से हमें बचना नहीं चाहिए। इस वरीयता का कारण है लोकतांत्रिक व्यवस्था का मनुष्यों के बीच बराबरी के सिद्धांत पर आधारित होना। इसकी नजर में सभी मनुष्य बराबर हैं जो कि अन्य व्यवस्थाओं में मुमकिन नहीं है। क्या सभी मनुष्यों को बराबर माना जाना उचित हैं? यह सवाल उठाया तो जा सकता है लेकिन इसका कुछ किया नहीं जा सकता। क्योंकि यह वह आधारभूत मान्यता है जिससे आगे बाकी तर्क निकलते हैं। एक बार इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के बाद इसी से लोकतंत्र को स्वीकारने की दूसरी वजहें बनती हैं। वे वजहें हैं राजनैतिक निर्णयों में जनसहभागिता की स्थापना जो अन्य व्यवस्थाओं में मुमकिन नहीं है। लिए जाने वाले निर्णयों के लिए सार्वजनिक रूप से सिद्ध किए जा सकने वाले तर्क प्रस्तुत करना और किसी भी तर्क या व्यवस्था को उस पर सवाल खड़े किए जाने से परे नहीं मानना।

अब उक्त संदर्भ में अगर हम शिक्षा की परिकल्पना करें तो शिक्षा में ऐसे तत्वों का होना जरूरी है जो व्यक्ति को आर्थिक तौर पर समर्थ बनाने में सक्षम हों तथा मानसिक स्तर पर मतारोपण आदि से इतर अपने फैसले से विचारों को चुनने, उन पर सवाल उठाकर उनमें उचित-अनुचित का भेद कर पाने में समर्थ बनाते हों। इस बात में एक स्वायत्त व स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास का आग्रह मौजूद है यह बात हमें पता होनी चाहिए। अब यह दोनों तर्क हमें शिक्षा को किसी मतारोपण से इतर स्वायत्त तौर पर चलने वाली व्यवस्था के तौर पर स्थापित करने की वजहें दे देते हैं।

शिक्षा के संदर्भ में एक सवाल अभी भी बचा रह जाता है कि शिक्षा क्यों करना चाहते हैं? इसकी वजह हमें मनुष्य के तौर पर अपने अस्तित्व को बनाए रखने की जद्दोजहद में मिलती है। बतौर मनुष्य हम अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए अपनी भावी पीढ़ी को इतना समर्थ बनाना चाहते हैं कि वह अपना अस्तित्व बनाए रख सके। मनुष्य के विकास काल में मानवीय ज्ञान जिस जटिल अवस्था में पहुंच चुका है उसमें अस्तित्व बनाए रखने के लिए जरूरी है कि इस ज्ञान को अर्जित किया जाए। इस ज्ञान को हासिल करने का रास्ता है कि उस ज्ञान सृजन की प्रक्रिया में भागीदारी की जाए। लेकिन ज्ञान सृजन का चस्का ऐसा होता है कि वह सिर्फ उसे सीखने तक आकर रुक नहीं जाता वरन उसमें नए सृजन के लिए उकसाता है और यही वह कुंडली है जो हर शह आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य अपने ही ज्ञान की इस कुंडली में थोड़ा और इजाफा करता जाता है और फंसता जाता है।

उक्त संदर्भ शिक्षा के एक ऐसे स्वायत्त त्रिभुज की निर्मिति करता है जिसके एक कोने पर आर्थिक रूप से सक्षम होने की तैयारी है, दूसरे कोने पर अपने उचित-अनुचित के फैसले के आधार पर विचार चयन की सामर्थ्य विकसित करने की तैयारी है तो तीसरे कोने पर मानवीय ज्ञान की विरासत में साझेदारी व नया सृजन करने की तैयारी है। और इस शिक्षा रूपी त्रिभुज का औचित्य हमारे इस लोकतांत्रिक समाज के बीचों-बीच स्थित होने में है।

यह वक्त शिक्षा विमर्श के संदर्भ में एक सूचना साझा करने का भी है। वह यह कि अभी तक संपादक रहे विश्वंभर ने विमर्श को एक मुकाम तक पहुंचाया है और पाठकों, लेखकों व अनुवादकों के बीच एक भरोसा बनाया है; वे विमर्श की जिम्मेमदारी दूसरे हाथों में सौंपकर शिक्षा के क्षेत्र में अन्य तरह के कामों से जुड़ने जा रहे हैं। उनकी सफलता की कामना करते हुए यही कहा जा सकता है कि आगे उस भरोसे को कायम रखने की कोशिश रहेगी साथ ही सभी का सहयोग यथावत मिलता रहे इसकी उम्मीद भी। ◆

शिक्षा और भारत की वर्गीय संरचना

अमन मदान

हमारे विचार व आकांक्षाएं किसी वर्गीय संरचना के भीतर हमारी स्थिति से प्रभावित रहते हैं। मेरा कॉलेज जाने का सपना देख पाना और अपने लिए कोई खास कैरियर बना पाना मेरे परिवार के पास उपलब्ध संसाधनों पर निर्भर कर सकता है। बड़ा होकर जब मैं कोई नौकरी करने लगूंगा और उससे कुछ सत्ता हासिल होगी उसका इस बात पर प्रभाव पड़ेगा कि मैं अपनी शिक्षा हासिल करने के दिनों की मुश्किलों को सफल मानता हूं या नहीं। इससे दूसरों को यह संकेत भी मिलेगा कि क्या मेरा काम वांछनीय है। बाजार में किन्हीं खास तरह की नौकरियों की उपलब्धता व उनके लिए मिलने वाली तनख्वाह का प्रभाव इस बात पर पड़ेगा कि बेहतरीन छात्र उन्हें पाने की आकांक्षा पालेंगे या नहीं। वर्गीय ढांचा आमतौर पर दिखाई देने वाले इस दृश्य के लिए जिम्मेदार है जिसमें मजदूर का बच्चा जल्दी ही शिक्षा छोड़ देता है और जो काम उसे लगता है कि आसानी से उपलब्ध है उसकी खोज करने लगता है और इसे तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक कि लगभग मुफ्त में उसे अच्छे स्कूल उपलब्ध ना हों। वर्गीय सत्ता की आवाज की गूंज इस तथ्य में सुनाई देती है कि जब तक सरकार या परोपकारी संस्थान अच्छे स्कूल उपलब्ध नहीं करवाते तब तक इस तरह की बच्ची खुद अपने स्तर पर उन तक नहीं पहुंच सकती। वर्गीय संरचना हमारे ऊपर अदृश्य किन्तु बेहद जबरदस्त दबाव डालती है मगर इसका मुकाबला सरकार, सामाजिक आन्दोलनों व कुछ अन्य लोगों की मदद के जरिए ही किया जा सकता है।

सेवा व औद्योगिक क्षेत्र की वर्गीय संरचना तथा शिक्षा के साथ उनके संबंधों का विश्लेषण करने के विभिन्न तरीके हैं। इनमें सबसे विश्वसनीय तरीका 20वीं सदी के अंत में एरिक ओलिन राइट (1996, 2005) द्वारा विकसित किया गया तरीका है। वे उन तीन पहलुओं को साथ लेते हैं जिनका जिक्र पहले किया जा चुका है। ये तीन पहलू हैं शोषण व सत्ता का रिश्ता तथा उपलब्ध बाजार में डिग्रियों की साख। लेख के अगले हिस्से में भारत में शिक्षा पर वर्गीय प्रभाव के बारे में चर्चा करने के लिए हम राइट के विचारों की मदद लेते हैं और यह काम हम वर्ग से संबंधित तीनों पहलुओं के जरिए करते हैं।

एरिक ओलिन राइट

एरिक ओलिन राइट वर्गीय संरचना व इसके भीतर लोगों की स्थिति का विश्लेषण करने के लिए मार्क्स व वेबर के सैद्धांतिक विचारों को मिलाकर देखते हैं। किसी खास वर्ग के लोग किस प्रकार के रिश्तों में होते हैं उन्होंने इसका अध्ययन किया था। उन्होंने पाया कि लोगों को वर्ग के किसी खास खाने में डालने की कोशिश का कोई खास फायदा नहीं था इसके बजाए यह देखा जाना चाहिए था कि वे किन रिश्तों के हिस्से थे और वे उनकी जिन्दगियों व विकल्पों को कैसे प्रभावित कर रहे थे। उन रिश्तों को समझने के मुख्य तरीकों में यह देखना शामिल था कि लोग उत्पादन के साधनों के साथ किस तरह जुड़े थे (मार्क्स के सिद्धांत

से), बाजार में उनकी स्थिति क्या थी और संस्थान के अंदर उनके पास कितनी सत्ता थी (वेबर के सिद्धांतों से)। उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया कि इनके असंख्य संयोजन बनना संभव थे और किसी व्यक्ति के वर्ग का ठीक-ठीक पता लगाने की कोशिश करना एक व्यर्थ की कवायद थी। वर्ग उतने अलग-अलग रूप में अस्तित्व में नहीं होते थे जितने कि वे चेतना संपन्न समूह होते थे जो खुद को कोई नाम दे देते थे। उदाहरण के लिए, भारत में एक तिहाई आबादी संभवतः अपने आपको मध्यम-वर्ग मानती है। किन्तु अगर कोई उन सिद्धांतों को लागू करके देखे जिनके बारे में राइट बात कर रहे हैं तो एक ऐसी जटिल वर्गीय संरचना उभर कर सामने आ जाती है जिसे शायद उसमें शामिल व्यक्ति भी परिभाषित न कर पाएं। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्ग व शिक्षा को समझने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को किसी खास और स्थिर खाने में डालने की कोशिश करने के बजाए लोगों की स्थिति को अवधारणाओं के ग्रिड के भीतर मौजूद मानकर बात करना ज्यादा लाभदायक था।

शिक्षा तथा उत्पादक, व्यापार या सेवा प्रदाता वर्ग

मार्क्स की तरह एरिक ओलिन राइट ने विभिन्न प्रकार की पूंजी रखने वालों व श्रम के साथ शोषण का रिश्ता रखने वालों के बीच में फर्क किया था। एक वर्ग जो तुरंत स्पष्ट तौर पर सामने आया वह ऐसे पूंजीपतियों का है जो पारिश्रमिक के बदले श्रम लेते हैं और उनका लाभ इस बात पर निर्भर करता है कि वे मजदूरों व उत्पादन प्रक्रिया को कितना अतिरिक्त निचोड़ सकते हैं। पिछली शताब्दी के दौरान पूंजीपति खुद बड़े से बड़े होते चले गए हैं अतः विभिन्न प्रकार के पूंजीपतियों को अलग-अलग कर लेना मददगार हो सकता है। एक तरफ अंबानी और बिड़ला जैसे बड़े पूंजीपति हैं, उनके पास दसियों हजार कार्मिक हैं और उनमें मैनेजरों के ढेर सारे स्तर हैं। उनकी राजनीतिज्ञों व प्रशासन के साथ सीधे हॉट लाइन पर बात होती है। वे अपने बच्चों को भारत के सबसे मंहगे स्कूलों में शिक्षित होने के लिए भेजते हैं और उसके बाद विदेश भेज देते हैं जहां उन्हें उनके पैसे के बल पर एलीट मैनेजमेंट या दूसरे कॉलेजों में एडमिशन मिल जाता है। उनका जीवन व काम की शैली मध्यम दर्जे के उन पूंजीपतियों से काफी अलग है जिनके पास गिनती के या दर्जनभर कार्मिक हुआ करते किन्तु फिर भी वे उनके साथ शोषण के एक रिश्ते में होते थे। इनका आय का स्तर काफी कम होता और जीवन जीने का ढंग बड़े पूंजीपतियों से काफी अलग होता। किन्तु फिर भी वर्चस्व व शोषण का रिश्ता मौजूद रहता। इनके बरक्स उन छोटे पूंजीपतियों को रखा जा सकता है जिनके पास बमुश्किल इक्का-दुक्का काम करने वाले होते हैं और जो बड़े व मध्यम दर्जे के पूंजीपतियों की तुलना में काफी असुरक्षित होते हैं। उनका जीवन काफी तनाव भरा हो सकता है, उन्हें लगातार आजीविका अर्जित करने व जीवन स्तर को बनाए रखने की चिंता लगी रह सकती है। ये लोग छोटे रेस्टोरेंट या छोटी फैक्ट्री के मालिक हो सकते हैं। इनमें से हरेक के बच्चे जिस प्रकार की शिक्षा हासिल करेंगे वह काफी अलग होगी। इन तीनों में से छोटे पूंजीपति के स्तर के आसपास वाला व्यक्ति शायद ऐसा होता होगा जो अपने बच्चों पर स्कूल में मेहनत करने का दबाव बनाता होगा क्योंकि उनका दैनिक जीवन काफी असुरक्षित व तनाव भरा होता था। भारत के ज्यादातर उद्यमियों को छोटे पूंजीपति की अवधारणा के नजदीक रखा जा सकता है, जो छोटे अनौपचारिक सेक्टर में बिना ज्यादा सुरक्षा के काम कर रहे होते हैं या सुरक्षा संबंधी कायदे कानूनों व मजदूरों के कल्याण की परवाह किए बिना काम कर रहे होते हैं। इस पर गौर किया जाना चाहिए कि यह कोई स्थिर या जड़ किस्म की वर्गीय स्थितियां नहीं थीं बल्कि अलग-अलग लोगों में मौजूद वे प्रवृत्तियां थीं जो कि एक अवधारणा के नजदीक या दूर होने के रूप में देखी जा सकती थीं। जो लोग मध्यम या बड़े पूंजीपतियों की धारणा के नजदीक होते थे वे दूसरों की बजाए शिक्षा से काफी अलग उम्मीद रखते थे। वे अपने बच्चों पर स्कूली शिक्षा को भविष्य को सुरक्षित करने वाली एक मात्र जीवनरेखा मानने का बहुत दबाव नहीं बनाते हैं।

अकेले व स्वतंत्र काम करने वाले व्यक्ति को पूंजीपतियों से अलग किया जा सकता है और उसे ऐसे व्यक्ति के तौर परिभाषित किया जा सकता है जिससे ना तो कोई और पारिश्रमिक के बदले श्रम करवा रहा होता था और ना ही वह स्वयं किसी को पारिश्रमिक देकर अपने लिए काम पर रखता था। इस तरह यह एक ऐसा व्यक्ति होता जो न तो किसी और का शोषण कर रहा होता न ही कोई और उसका शोषण कर रहा होता। स्वतंत्र काम करने वाला

व्यक्ति अक्सर अपने परिवार के सदस्यों के श्रम का उपयोग कर रहा होता किन्तु दूसरों से नियमित तौर पर पारिश्रमिक देकर काम नहीं करवाता। हालांकि इसमें अलग-अलग तरह के लोगों का एक बड़ा दायरा शामिल होता जिसमें अपनी शैक्षिक उपलब्धियों के बल पर अपना जीवन यापन करने वालों (डॉक्टर, आर्कीटैक्ट्स आदि) से लेकर वे लोग (टोकरी बनाने वाले, सब्जी का ठेला लगाने वाले आदि) तक शामिल होते जिनके लिए शिक्षा बहुत मायने नहीं रखती थी। उनकी वर्गीय हैसियत व शिक्षा को लेकर उनकी हसरतों को बाजार की उन परिस्थितियों से बखूबी समझा जा सकता था जिनमें वे रह रहे होते व काम कर रहे होते थे। उदाहरण के लिए, जिन माता-पिताओं के पास ऐसी डिग्रियां होती हैं कि जिनकी वजह से वे लोकप्रिय पेशों में आ जाते हैं वे अपने परिवार में शिक्षा और उससे मिलने वाले फायदों को लेकर जबरदस्त दबाव बनाते हैं। जबकि जिन लोगों की डिग्री की बाजार में कीमत कम होती है या जिनके पास किसी तरह की कोई डिग्री नहीं होती वे शिक्षा हासिल करने के लिए जरूरी प्रयासों को लेकर बहुत हद तक संशय में रहते हैं।

मजदूर वह व्यक्ति होता है जो मजदूरी लेकर दूसरों के लिए काम करता है। यह महत्पूर्ण वर्ग था और पिछली दो शताब्दियों के दौरान लगातार बढ़ रहा था। बड़ी संख्या में लोग छोटे पूंजीपति या स्वतंत्र रूप से काम करने वाले बनने की बजाए किसी और के लिए काम करने वाले बनना शुरू कर चुके थे। विकास के वर्तमान मॉडल की वजह से अभी हाल के वर्षों में पारिश्रमिक के बदले काम करने वालों की तुलना में स्वतंत्र रूप से काम करने वाले लोगों की संख्या तेजी से बढ़ी है क्योंकि नियमित काम बहुत दुर्लभ होता जा रहा है। किन्तु अभी भी यह काफी महत्वपूर्ण है और इसका आकार काफी बड़ा है। राइट ने इस ओर ध्यान दिलाया कि पारिश्रमिक पर काम करने वाले मजदूरों को भी विभिन्न स्तरों व प्रकारों में बांटा जा सकता है। उनके बीच कुछ इस तरह का भेद किया जा सकता है- एक वे जो कम कुशल थे और दूसरे वे जो विशेषज्ञ या बहुत कुशल थे और जिनकी बाजार को जरूरत होती थी। उनकी आय में भिन्नता होती है और उनके बच्चों का भविष्य भी अलग-अलग होता था। एक छोर पर वे लोग होते हैं जो फावड़े या गैंती से नालियों की खुदाई करके पैसा कमाते हैं और दूसरे छोर पर वे लोग होते हैं जो जमीन में खुदाई करने वाली महंगी व जटिल मशीनरी चलाने की कुशलता रखते हैं। इसके अलावा मजदूरों के बीच इस आधार पर भी फर्क है कि किसके पास कितनी सत्ता है। कुछ सामान्य मजदूर हो सकते हैं तो कुछ वे हो सकते हैं जिनको उनका सुपरवाइज़र बना दिया गया था और उनके भी ऊपर उनके मैनेजर हो सकते हैं। मैनेजरों में भी कुछ ऐसे हो सकते थे जिन्होंने अपने तरीके से अपना काम किया और जिनके पास विशेषज्ञता संबंधी किसी प्रकार की कोई डिग्री नहीं होती थी तो दूसरी तरफ ऐसे मैनेजर भी हो सकते थे जो विशेषज्ञ होने का दावा करते थे और जिनके पास एडवांस डिग्री व अनुभव थे।

इस तरह पूंजी, सत्ता, विशेषज्ञता व बाजार की मांग संबंधी सिद्धांत विभिन्न लोगों के बहुरंगी वर्गीय अनुभवों को समझने में हमारी मदद करते हैं। इनका शिक्षा के साथ बहुत नजदीकी रिश्ता है। बहुत से देशों व जगहों की शिक्षा पर उच्च शिक्षित मजदूरों व स्वतंत्र रूप से काम करने वाले शिक्षित लोगों का नियंत्रण रहा है। इनमें मैनेजर व प्रोफेशनल लोग शामिल हैं। ये वे लोग हैं जो यह तय करते हैं कि पाठ्यचर्या या शिक्षाक्रम में क्या होगा और पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु इन्हीं की वर्गीय परिस्थितियों की प्रवृत्ति से प्रभावित हुआ करती है। इन्हीं के बच्चों के पास सबसे अच्छे स्कूलों व कॉलेजों में जाने के मौके सबसे ज्यादा हुआ करते थे। बहुत से अध्येता यह तर्क देते हैं कि शिक्षा की विषयवस्तु व उद्देश्यों को उन वर्गों के हितों व विचारों द्वारा विकृत कर दिया गया जिन वर्गों का उन भूभागों पर नियंत्रण हुआ करता है।

आजकल बाजार के हिसाब से कम कीमती शिक्षा हासिल करने वाले या बिल्कुल भी शिक्षा हासिल नहीं करने वाले ज्यादातर लोग निम्न स्तर के स्वतंत्र काम करने वाले लोग होते हैं या अकुशल व ऐसे मजदूर होते हैं जिनके पास सत्ता कम है। भारतीय आबादी में एक बहुत बड़ा हिस्सा आज इन लोगों का है, शायद 75 से 80 प्रतिशत तक। यह स्थिति भारतीय शिक्षा पर इस तरह के बहुत ही गंभीर सवाल खड़े करती है कि अंग्रजों के भारत छोड़कर चले जाने के लगभग सत्तर साल बाद भी हमारी शिक्षा व्यवस्था बहुत से लोगों की वर्गीय स्थिति में कोई खास फर्क क्यो नहीं ला पाई।

इस शिक्षा व्यवस्था की आखिरकार दिक्कत क्या है? कम प्रभावशाली वर्ग शायद इस पर अपनी जरूरतें पूरी करने व दूसरे लोगों के बरक्स अपनी स्थिति को बराबरी पर लाने का दबाव नहीं बना पाते हैं। भारतीय शिक्षा व्यवस्था उन लोगों के लिए ज्यादा बेहतर काम करती हुई लगती है जो पहले से शिक्षित हैं और जिनके पास अपने बच्चों को सबसे अच्छे स्कूलों में भेजने के संसाधन हैं। व्हाइट कॉलर शिक्षितों व वर्गीय संरचना में मौजूद मध्यम वर्ग की पकड़ शिक्षा व्यवस्था पर सबसे मजबूत दिखाई देती है। हालांकि उनके लिए भी शिक्षा बेहद असुरक्षा व व्याकुलता पैदा करने वाली व्यवस्था है। वे लगातार इस बात से चिंतित रहते हैं कि उनके बच्चे समाज की इस स्तरीकृत व्यवस्था में उन्नति करेंगे या पिछड़ जाएंगे।

तालिका 1 भारतीय वर्ग संरचना के आयाम या पहलू

परिवारों के मुख्य व्यवसाय	प्रतिशत
मालिक, मैनेजर, चुने गए प्रतिनिधि, पेशेवर लोग, प्रोफेसर	23.7
निचले पायदान पर मौजूद शिक्षित मजदूर, शिक्षक, क्लर्क, नर्स, तकनीकी सहायक, ज्योतिषि	6.2
अकुशल मजदूर : दुकान पर सहायक, हाउसकीपिंग में लगे लोग, रेस्टोरेंटों में काम करने वाले, सुरक्षा सेवाएं, गलियों में सामान बेचने वाले, घरेलू नौकर, मैनेजर, कुली	9.8
ऐसे किसान जिनके पास 2 एकड़ से कम जमीन है	15.7
ऐसे किसान जिनके पास 2 से 4 एकड़ तक जमीन है	5.3
ऐसे किसान जिनके पास 4 एकड़ से ज्यादा जमीन है	4.0
पशु पालन व खेती	0.8
वन विभाग में काम करने वाले मजदूर, मछुआरे, शिकारी और खेतीहर मजदूर	19.6
कुशल मजदूर, दस्तकार, मशीनरी चलाने वाले मजदूर, विभिन्न साधनों के ड्राइवर	14.8
कुल	**100.0**

शिक्षा व खेतीहर वर्ग

वर्गीय रिश्तों व उनके शिक्षा पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करने का जो उपरोक्त तरीका है उसकी दलील यह है कि शिक्षा वर्गीय असमानता की व्यवस्था के साथ बहुत गहराई से जुड़ी है। इस तरह के विश्लेषण का विस्तार ग्रामीण भारत के बहुत से इलाकों तक किया जा सकता है। आजकल बहुत से लोगों को गावों में रहते हुए हर रोज निकट के कस्बे जाना पड़ रहा हो सकता है। ऐसे कई परिवार हो सकते हैं जिनमें एक भाई पारिवारिक खेती संभाल रहा हो और बाकी भाइयों को गैर खेतीहर पेशों में काम करना पड़ रहा हो। एरिक ओलिन राइट की यह रूपरेखा विभिन्न वर्गों के बीच उभरे उन नए वर्गों के बीच के फर्क को समझने में काफी मददगार साबित होती है जहां सर्विस सेक्टर सक्रिय है। हालांकि ज्यादातर ग्रामीण भारत के लिए मुख्य रूप से मार्क्स की परंपरा से लिया गया सादा वर्गीय विश्लेषण भी पर्याप्त होता है।

उदाहरण के लिए, एस. एम. दांडेकर (2001) भारतीय खेतीहर वर्गों के बीच के मौजूद फर्क को जिस तरह पहचानते हैं उसे यहां लेते हैं। यह देखा जा सकता है कि बड़े किसानों के जीवनानुभव व शिक्षा संबंधी चुनाव मंझोले व छोटे किसानों की अपेक्षा अलग होते हैं। बड़े किसान उन्हें कहा जा सकता है जिनके पास इतनी पर्याप्त जमीन होती है

कि वे दूसरे मजदूरों को नियमित रूप से काम करने के लिए अपने यहां रख सकते हैं। यह ऐसा व्यक्ति होगा जिसकी अपने इलाके में अच्छी धाक होती है। अगर यह व्यक्ति अपनी जैसी वर्गीय पृष्ठभूमि के ही अन्य सगे-संबंधियों के साथ उस इलाके में रह रहा होता है तो इन सभी परिवारों का समूह राजनैतिक प्रभाव के साथ-साथ उस इलाके में दबंगई हासिल कर लेता है। जमीन का बड़ा हिस्सा उनके पास होता है और अपने यहां काम करने वाले कार्मिकों से बेगार करवाने/काम निकलवाने के लिए जरूरी सामाजिक दबंगई की संस्कृति भी यह हासिल कर लेते हैं। उनके बच्चे स्कूल, कॉलेज जा रहे हो सकते हैं किन्तु उसके बावजूद अक्सर अपने परिवार की तरफ से पढ़ाई में अच्छा करने का किसी प्रकार का दबाव अनुभव नहीं करते, खासकर बहुत बड़े किसानों के बीच ऐसा होता है। हो सकता है कि उनके बच्चे गांव या पास के कस्बे के स्कूल में भी नहीं पढ़ रहे हों, बल्कि वे अक्सर बड़े शहर में रहने और पढ़ने चले जाते हैं।

ऐसे किसान जिनके पास परिवारिवारिक श्रम के आधार पर संभाली जा सकने लायक जमीन होती है उन्हें मंझोले किसान कहा जा सकता है। बड़े किसानों की तरह इन मंझोले किसानों को नियमित तौर पर मजदूरी पर बुलाए जाने वाले मजदूरों की जरूरत नहीं होती है और न ही इन्हें किसी दूसरे के लिए काम करने की जरूरत होती है। ऐसे किसान अपने परिवार के सदस्यों की मदद से अपने सारे काम करने में समर्थ होते हैं या फिर फसल कटाई जैसे कुछ अवसरों पर मजदूर बुलाकर अपना काम करने में समर्थ होते हैं। अक्सर यही वह वर्ग होता है जो अपने बच्चों पर पढ़ाई का दबाव बनाता है और कृषि से होने वाली आय के इन दिनों कम होते चले जाने की वजह से अपने बच्चों से कोई और पेशा अपनाने के लिए कहता है। ये लोग अपना भाग्य सुरक्षित करने के लिए खेती से अलग जाकर किसी और पेशे में अपने बच्चों को भेजने का दर्द उठा सकते हैं। उनके पास अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में भेजने के लिए पैसा होता है किन्तु बड़े किसानों के विपरीत इनमें से ज्यादातर अपने बच्चों को आसपास ही भेजते हैं।

इन मंझोले और बड़े किसानों के बरक्स ऐसे किसान भी हो सकते हैं जिनके पास कुछ जमीन होती है किन्तु केवल खेती से अपने परिवार का खर्च निकालने के लिए यह पर्याप्त नहीं होती। ये छोटे किसान अपनी आय बढ़ाने के लिए अक्सर मंझोले व बड़े किसानों के यहां भी काम करने चले जाते हैं। आजकल इनमें से बड़ी संख्या में लोग शहर आते-जाते हैं या मौसम के आधार पर वहां पलायन कर जाते हैं। ये ऐसे लोग हैं जो बड़ी शिद्दत से यह महसूस करते हैं कि उनके बच्चों को खेती के अलावा कोई और पेशा चुनना चाहिए क्योंकि और जमीन खरीदना बहुत मुश्किल होता है। ज्यादा शिक्षा हासिल करना आपको क्षितिज के पार बेहतर जीवन का वादा (अक्सर चाहे झूठा ही सही) देता है। ये वे लोग हैं जिन्हें एक ऐसे देश में जहां सरकारी शिक्षा के रूप में मौजूद सस्ती व अच्छी शिक्षा का पौधा सूखता जा रहा है अपनी उम्मीदों को हकीकत में बदलना बेहद मुश्किल नज़र आता है। अच्छी शिक्षा अक्सर ही उनकी पहुंच से दूर रह जाती है।

ऐसे किसान भी हो सकते हैं जो जमीन भाड़े पर लेकर खेती कर रहे हों और जैसे-तैसे अपना जीवन यापन कर रहे हों। ये लोग उन लोगों से जमीन भाड़े पर ले लेते हैं जो या तो अब शहर में काम कर रहे हैं या फिर जिन परिवारों में लोग बहुत कम हैं। अपनी जमीन नहीं होने के चलते उन्हें बड़ी राशि भाड़े के रूप में देनी पड़ती है अथवा अपने उत्पादन में जमीन मालिक को हिस्सा देना पड़ता है। कई बार इन लोगों में वे छोटे किसान भी होते हैं जो कुछ और जमीन बढ़ाकर अपनी आय बढ़ाना चाहते हैं। हालांकि इसमें लाभ बहुत कम होता है और मेहनत ज्यादा होती है। इस वर्ग के माता-पिता भी अपनी आय के आधार पर अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा उपलब्ध करवाने में काफी कठिनाई महसूस करते हैं।

भूमिहीन कृषि मजूदर वे लोग होते हैं जिनके पास किसी तरह की कोई जमीन नहीं होती, न तो अपनी न ही भाड़े की। उन्हें अपना जीवन चलाने के लिए हर रोज किसी और के यहां मजदूरी करनी पड़ती है। वे इस बात को समझते हैं कि कुछ वर्गों के लिए शिक्षा एक ऐसी दुनिया हासिल करने का साधन है जो उनकी मेहनत और परिश्रम भरी

रोजाना की दुनिया से बहुत दूर है। किन्तु सबसे कम संसाधन उपलब्ध होने की वजह से ऐसी शिक्षा हासिल करने में आने वाली कठिनाई उनके लिए निराशा का सबब बन जाती है। उनके बच्चों के कुपोषित होने व भूखे स्कूल आने की संभावना बहुत ज्यादा होती है। वे कुछ रुपयों की मजदूरी या कुछ मुट्ठी अनाज के दोनों की तलाश में झट से ड्रॉप आउट हो सकते हैं। जब उनके माता-पिता हर दिन मजदूरी पर जाते हैं तब वे घर पर रह कर अपने भाई-बहिनों की देखभाल करते हैं और स्कूल में अनियमित रहते हैं।

सामाजिक गतिशीलता

कुछ ऐसे तरीके हैं जिनकी मदद से किसी वर्गीय संरचना के निचले स्तर पर मौजूद लोग ऊपर उठ सकते हैं। किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर में आ जाना सामाजिक गतिशीलता कहलाती है। जब लोग निचले स्तर से ऊपरी स्तर में पहुंचते हैं तो इसे ऊपर की ओर सामाजिक गतिशीलता कहते हैं और जब लोग ऊंचे स्तर से निचले स्तर पर आ जाते हैं तो इसे नीचे की ओर सामाजिक गतिशीलता कहते हैं। उदाहरण के लिए, ऊपर की ओर सामाजिक गतिशीलता तब संभव होती है जब शिक्षा आसानी से उपलब्ध हो जाती है तथा अकुशल मजदूरों के बच्चे शिक्षा हासिल करने लगते हैं और इसके साथ ही व्हाइट कॉलर जॉब मानी जाने वाली नौकरियों की संख्या बढ़ रही होती है। जब ऐसा होता है तो बेहतर तनख्वाह वाली व अधिक सुरिक्षित नौकरियों की ओर व्यापक स्तर पर सामाजिक गतिशीलता होना संभव होता है। नीचे की ओर सामाजिक गतिशीलता भी संभव है। ऐसा मुंबई और कानपुर के बहुत से मिल मजदूरों के साथ 1980 व 1990 के दशकों में हुआ था जब उनके मिल मालिक इन शहरों को छोड़कर ज्यादा मुनाफे वाली जगहों पर चले गए थे। इस कारण वहां के बहुत से मजदूर कम आय वाले और ज्यादा अस्थाई किस्म के काम जैसे सब्जी बेचना या दुकान चलाना, अपना कोई काम करना आदि करने लगे।

शिक्षा का आकर्षण दूसरी अन्य चीजों के साथ इसके सामाजिक गतिशीलता के वादे में मौजूद है। जब लोग स्थानीय स्कूलों से इस तरह की उम्मीद करने लगते हैं जो चाहे ऊंचे वर्ग की ओर जाने की हो या फिर अधिक सामाजिक सम्मान हासिल करने की, तब यह सामाजिक गतिशीलता का स्वप्न शिक्षा के प्रति आकर्षण को तीव्र कर देता है।

सामाजिक गतिशीलता का मापन एक ऐसा जबरदस्त तरीका होता है इस बात को आंकने का कि उस इलाके का विकास का मॉडल और शिक्षा अपने उस वादे को पूरा करने में कितना कामयाब रहे हैं जो वादा शिक्षा शास्त्रियों ने किया था। इसे मापने का एक सरल तरीका पीढ़ियों के बीच होने वाली गतिशीलता है जिसमें यह जानने की कोशिश की जाती है कि विभिन्न वर्गों के कितने लोग अपने माता-पिता के वर्ग से बाहर जाने में समर्थ हुए हैं। यह पाया गया कि पीढ़ियों के बीच की यह गतिशीलता इंग्लैंड व अमेरिका जैसे देशों की बजाए स्वीडन व नार्वे जैसे स्कैंडिनेवियाई देशों में ज्यादा बेहतर रही है (ब्लांडेन 2005)। इस बात का संबंध अध्येताओं ने उन देशों में बेहतर तरीके से विकसित सरकारी स्कूली व्यवस्था के साथ जोड़ा है। इन स्कूलों में उच्च योग्यता वाले शिक्षक होते हैं और कमजोर छात्रों को अतिरिक्त मदद देने पर जोर होता है। इसकी एक वजह व्यापक कल्याणकारी उपाय भी हैं जो गरीबों को आवास, चिकित्सा सुविधा व पोषण उपलब्ध करवाकर उन्हें आगे बढ़ने में मदद करते हैं। इंग्लैंड व अमेरिका दोनों ही देशों में सरकारी स्कूल व कल्याणकारी योजनाओं के लाभ उतने प्रभावशाली नहीं हैं।

भारत में सामाजिक गतिशीलता 1983 व 2013 के बीच बढ़ी है (रेड्डी 2015)। हालांकि हो सकता है कि यह गतिशीलता पेशेगत संरचना में बदलाव की वजह से ज्यादा हुई हो। ऐसा लगता है कि जैसे बच्चों के अपने पिता के पेशे से दूसरे पेशे में चले जाने के पीछे अकेली शिक्षा का जो योगदान होता है उसमें कमी आई है। दूसरे शब्दों में कहें तो खुद शिक्षा व्यवस्था गरीब पृष्ठभूमि के बच्चों को शामिल करने में तथा उन्हें ज्यादा आय वाले ऊंचे वर्ग में ले जाने में उतनी समर्थ नहीं रही है। इसका कारण शायद शिक्षा का बढ़ता निजीकरण तथा स्कूलों व कॉलेजों की बढ़ती हुई लागत है, साथ ही सरकारी स्कूलों में गिरावट तथा सरकारी कॉलेजों का पर्याप्त तेजी से विकास नहीं होना भी है।

वर्ग क्यों

किसी इलाके की वर्गीय संरचना ईश्वर प्रदत्त नहीं होती और न ही तय व स्थिर होती है। यह विभिन्न ऐतिहासिक कालों में बदलती रहती है। किसी खास वर्गीय संरचना के बनने व बदलने के पीछे कुछ वजहें हो सकती हैं। पीछे जिन विभिन्न सिद्धांतों का जिक्र किया गया है वे इसकी अलग-अलग व्याख्या करते हैं। कुछ का कहना हो सकता है कि वर्गों का संबंध समाज में मौजूद तकनीक के स्तर से होता है। कुछ कह सकते हैं कि ये इस बात पर निर्भर करते हैं कि राजनैतिक सत्ता किसके पास है। अगर निचले वर्ग राजनीति को प्रभावित करने में ज्यादा समर्थ हो जाते हैं तो वर्गीय संरचना पूरी तरह से दूसरा रूप ले लेती है। अगर उच्च वर्ग दूसरों की बजाए केवल और केवल अपने विकास में रुचि लें तो इसका परिणाम यह हो सकता है कि ज्यादा से ज्यादा संपत्ति ऊपरी स्तर पर इकट्ठी हो जाएगी। यदि उच्च वर्ग सामाजिक जिम्मेदारी व भागीदारी के विचार से प्रेरित हों तो वर्गों के बीच का भेद कम हो सकता है।

शिक्षा आज की वर्गीय संरचना के केन्द्र में है। इसी के जरिए उच्च वर्ग को ज्यादातर जगहों तक पहुंचना संभव हो पाता है, हालांकि इस पहुंच का मतलब सीधे तौर पर उन उद्यमों का स्वामित्व हासिल करना नहीं होता। इसकी विषयवस्तु पर विभिन्न वर्गों की जरूरतों व संघर्षों का रंग चढ़ा है। यहां यह सुझाया जा रहा है कि आज की शिक्षा को समझना व उसके लिए काम करना इसके रिश्ते को वर्ग व्यवस्था के साथ समझे बिना मुमकिन नहीं है। कुछ लोग इस ओर ध्यान दिला सकते हैं कि शिक्षा का मतलब सिर्फ नौकरी और पैसा नहीं है। इसका लेना-देना संस्कृति, पर्यावरण व हमारे एक-दूसरे के साथ संबंध आदि सभी चीजों से है। यह बात सही है और यह शिक्षा के लिए बहुत महत्वपूर्ण सरोकार है। हालांकि यह सब समाज की वर्गीय संरचना के साथ गुंथे हुए हैं। अच्छे मूल्यों वाली शिक्षा को सम्मानजनक तरीके से जीवनयापन करने का तरीका भी उपलब्ध करवाना चाहिए। यह संभव है या नहीं यह काफी हद तक मेरे माता-पिता के वर्ग पर और मेरे इलाके की वर्गीय संरचना द्वारा उपलब्ध करवाए जा रहे अवसरों पर निर्भर करेगा। वर्गीय संरचना यह भी तय कर सकती है कि कौन तो सुसंस्कृत व प्रबुद्ध बनेगा और कौन श्रमसाध्य जीवन जीएगा।

इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि वर्ग केवल मात्र तरीका नहीं है जिसके जरिए शिक्षा व समाज में स्तरीकरण होता है। अगले लेख में हम जाति से मुखातिब होंगे और अंत में जाति व वर्ग के रिश्तों के सावाल से। ◆

भाषान्तरः प्रमोद पाठक

संदर्भः

Blanden, J., Gregg, P., & Machin, S. (2005). *Intergenerational mobility in Europe and North America*. London: Centre for Economic Performance, LSE. Retrieved from http://cep.lse.ac.uk/about/news/IntergenerationalMobility.pdf

Dandekar, V. M. (2001). Nature of Class Conflict in the Indian Society. In K. L. Sharma (Ed.), *Social Inequality in India: Profiles of Caste, Class and Social Mobility* (Second, pp. 298–329). Jaipur and New Delhi: Rawat.

Reddy, A. B. (2015). Changes in Intergenerational Occupational Mobility in India: Evidence from National Sample Surveys, 1983–2012. *World Development*, *76*, 329–343.

Wright, E. O. (1996). *Class Counts: Comparative Studies in Class Analysis*. Cambridge University Press.

Wright, E. O. (2005). Foundations of a Neo-Marxist Class Analysis. In E. O. Wright (Ed.), *Approaches to class analysis* (pp. 1–26). Cambridge: Cambridge University Press.

लेखक परिचयः जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

ज्ञान के निर्माण व उत्पादन पर शिक्षाशास्त्र का प्रभाव

रोहित धनकर

इस सत्र के लिए मुझे दिया गया मूल विषय बहुत पेचीदा था ''ज्ञान के उत्पादन व कौशल विकास के संदर्भ में शिक्षाशास्त्र व रणनीति के मुद्दे''। एक छोटे व्याख्यान के लिहाज से मुझे यह विषय चुनौतीपूर्ण लगा। अतः मैं इसे संक्षिप्त करते हुए विषय को कुछ हद तक बदलकर- ''ज्ञान के निर्माण व उत्पादन पर शिक्षाशास्त्र का प्रभाव'' कर रहा हूं।

इससे पहले कि मैं शिक्षाशास्त्र और उसके प्रभाव पर आऊं, यह आवश्यक लगता है कि मैं ज्ञान, ज्ञान-निर्माण और ज्ञान के उत्पादन को अपने अर्थों में परिभाषित करूं।

ज्ञान

मुझे लगता है कि इस प्रकार की चर्चा में दो तरह का ज्ञान महत्वपूर्ण है। एक, जिसे आम तौर पर ''प्रक्रियात्मक ज्ञान'' कहा जाता है या कहें कि कुछ कैसे किया जाना है का ज्ञान। उदाहरण के लिए, यह जानना कि चाय कैसे बनाई जाती है, या पेड़ पर कैसे चढ़ा जाता है, या कार कैसे चलाई जाती है, या नल लगाना और उस की मरम्मत करना, या गणित में गुणा करने की विधि, या कोई प्रयोग करना, या कोई गाड़ी ठीक करना आदि। आम तौर पर हम ऐसे ज्ञान को 'कौशल' कहते हैं। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात ''यह, सिद्धांतः जानने'' की नहीं है कि ''कार कैसे ठीक की जाती है'' बल्कि महत्व कार को ठीक करने की असल काबिलियत का है।

मगर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि 'कैसे करना है' को जानने के लिए सैद्धांतिक ज्ञान की जरूरत ही न हो। 'सैद्धांतिक ज्ञान' और 'करने की काबिलियत' के बीच के अन्तर को समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं। कल्पना करें भौतिक विज्ञान के एक प्रोफेसर की जो इस बात का तरीका निकाल ले कि एक छक्का लगाने के लिए क्रिकेट की गेंद पर किस तरह प्रहार करना होगा (किस कोण पर, कितने बल से, बल्ले को किस तरह लहरा कर आदि) और आपको कम्प्यूटर पर इसके अनुरूप झलक भी दिखा सके। लेकिन अगर आप उसे क्रिकेट खेलने के लिए भेज देते हैं तो बहुत मुमकिन है कि वह पहली ही गेंद पर आउट हो जाए। दूसरी ओर कल्पना कीजिए एक अच्छे बल्लेबाज की जो कई छक्के तो लगा सकता हो मगर शायद छक्का मारने की भौतिकी की व्याख्या न कर सके। भौतिकी के प्रोफेसर के पास छक्का लगाए जाने से सम्बद्ध 'सैद्धांतिक ज्ञान' है लेकिन वह यह कर नहीं सकता। बल्लेबाज छक्का लगा सकता है मगर उसके पास शायद भौतिकी के संदर्भ में यह 'सैद्धांतिक ज्ञान' न हो कि यह कैसे किया जाता है।

इस प्रकार के ज्ञान, यानी प्रक्रियात्मक ज्ञान या कौशल का हमारी पाठ्यचर्या में कोई विशेष स्थान नहीं है। लेकिन वहां इसका कुछ चित्रण तो है और वास्तविक जीवन में इसका बहुत मूल्य है। खासतौर से रोटी-रोजी के लिए तथा समाज को चलाए रखने के लिए भी।

दूसरे तरह का ज्ञान जिसे मैंने ऊपर 'सैद्धांतिक ज्ञान' के तौर पर दर्शाया है, को अक्सर 'तथ्यात्मक ज्ञान' कहा जाता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं: ''वर्ष 2015 में बैंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है''[1] ''1,08,39,725 का वर्गमूल 3,292 है।'' ''दूरी d पर स्थित m1 और m2 द्रव्यमान के दो पिण्डों के बीच गुरुत्वाकर्षण बल $F=G\times m1\times m2/d^2$ होता है।''

इस संदर्भ में 'जानने' का अर्थ क्या है? यह समझने के लिए हमें 'जानने' के उन तीन अलग-अलग अर्थों को समझना होगा जो ''वर्ष 2015 में बैंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है'' जैसे कथनों में प्रायः मौजूद होते हैं।

अक्सर सुनने में आता है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था 'केवल सिद्धांत सिखाती है' और 'कौशल विकसित नहीं करती'। लेकिन मैं इस बात का बिल्कुल कायल नहीं हूं कि हमारी शिक्षा व्यवस्था 'सिद्धांत' सिखाती है। बल्कि मेरा तो दावा है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था सिद्धांत सिखाने में पूरी तरह असफल है।

''वर्ष 2015 में बैंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है'' इस कथन को कक्षा-6 के किसी भी बच्चे के लिए याद करके परीक्षा में लिख देना काफी आसान है। लेकिन क्या इस कथन को लिख सकने वाला प्रत्येक व्यक्ति 'जानता' है कि बैंगलोर की जनसंख्या कितनी है? इसे समझने के लिए चार उदाहरण लेते हैं।

उदाहरण 1: बहुत मुमकिन है कि यह वाक्य एक ऐसे व्यक्ति को बोलना सिखाया जा सके जो 'जनसंख्या', 'बैंगलोर', 'वर्ष 2015', और '1,08,39,725' को नहीं समझता हो। तो क्या यह व्यक्ति कुछ भी जानता है? मैं तो कहूंगा कि नहीं, यह कुछ नहीं जानता। 'जानने' के लिए आपको अपने दिमाग में कुछ अर्थ बनाना होता है। केवल वाक्य बोल देना ही काफी नहीं होता। आपको 'समझना' होगा कि क्या कहा जा रहा है और किसके बारे में कहा जा रहा है। स्कूलों में पढ़ने वाले हमारे कितने बच्चे होंगे जो इस अर्थ में तथ्यात्मक ज्ञान हासिल करते हैं? इस बारे में मेरा अन्दाजा आपके अन्दाजे से कुछ अलग नहीं होगा।

उदाहरण 2: अब कल्पना करें एक ऐसे व्यक्ति की जो इस कथन को बोल व लिख तो सकता हो और 'जनसंख्या', 'बैंगलोर', 'वर्ष 2015' तथा '1,08,39,725' के अर्थ भी समझता हो लेकिन असल में इसे सच न माने। अपनी सोच के मुताबिक बैंगलोर की जनसंख्या 60 लाख के आस-पास मानता हो। क्या हम कहेंगे कि वह व्यक्ति यह ''जानता है कि वर्ष 2015 में बैंगलोर की जनसंख्या 1,08,39,725 है''? आम बोलचाल में हम कहते हैं कि हां, वह जानता होगा शायद। लेकिन दार्शनिक कहेंगे कि 'नहीं, वह नहीं जानता।' यह बात हमें जानने की दूसरी शर्त पर ले आती है कि कुछ जानने के लिए, उस पर विश्वास करना होता है। एक व्यक्ति अगर ''सिग्रेट के सेवन से कैंसर होता है'' कथन को बोल व लिख सकता है और इस कथन को समझता भी है, लेकिन उसका विश्वास है कि बीमारी तो जन्म के समय की 'ग्रह दशा' (ग्रह की स्थिति का प्रभाव) का मामला है, तो इसका अर्थ है कि वह इस बात को जानता नहीं है।

उदाहरण 3: एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जो इस कथन को बोल व लिख सकता है, समझ सकता है और इस पर विश्वास भी करता है। क्या यह आवश्यक है कि वह कथन में कही गई बात को 'जानता' ही है? मैं अब भी कहूंगा नहीं। क्यों? फर्ज करें कि मैं कथन ''वर्ष 2015 में बैंगलोर की जनसंख्या 1,08,39,725 है'' को दोहराता हूं और आप मुझ पर विश्वास करें या न करें, संयोग से मैं इस कथन का अर्थ भी समझता हूं। साथ ही फर्ज करें कि इस पर मेरा विश्वास भी है (असल में ऐसा है नहीं, और मैं बताऊंगा कि क्यों नहीं है)। लेकिन अगर आप मुझसे पूछें कि मैं कैसे जानता हूं कि बैंगलोर की आबादी 1,08,39,725 है, मेरे इस विश्वास की बुनियाद क्या है, मेरे पास इसका क्या सबूत है, और मैं यदि बस इतना कह पाता हूं कि मैंने यह इंटरनेट से गूगल के माध्यम से जाना तो क्या

आप इसे पर्याप्त आधार मानेंगे? क्या वह सब सत्य है जो गूगल बाबा कहते हैं? नहीं! चूंकि मेरे पास इस कथन पर विश्वास करने के कोई बेहतर आधार नहीं हैं। इसलिए मैं नहीं जानता। इसका अर्थ है कि कुछ जानने के लिए मेरे पास उसका कोई औचित्य या आधार भी होना चाहिए।

उदाहरण 4: अब फर्ज करें कि मैं कथन की बात को बोल व लिख सकता हूं, समझ सकता हूं, उसमें मेरा विश्वास है और उसके लिए औचित्य या आधार भी है और वह कुछ ऐसी सी बात कि मैं यह सब किसी बहुत विश्वसनीय वेबसाइट से हासिल करता हूं जो असल में भारत की जनसंख्या पर नजर रखती है और मैं सर्वेक्षण, हिसाब-किताब-गणना तथा पूर्व अन्दाजा लगाने की सांख्यिकीय तकनीकों की विधियों का भी जानकार हूं। लेकिन संयोग से कथन असल में गलत पाया जाता है। तो क्या मैं जानता हूं? कुछ दार्शनिक कहेंगे, ''नहीं!'' क्योंकि ज्ञान को सत्य भी होना होता है वरना औचित्यपूर्ण होने के बावजूद वह केवल आपका विश्वास भर बन कर रह जाता है। स्पष्ट है कि यह कथन गलत है। बैंगलोर जितने बड़े शहर की आबादी कभी भी इतनी सटीकता से नहीं जानी जा सकती जितनी कि यहां प्रदर्शित है। आंकड़े के अन्त में 725 को देखिए। आपके यह बोलने के दो मिनट के अन्दर-अन्दर यह संख्या बदल जाएगी या तो एक बच्चा जन्म ले चुका होगा या इतने ही समय में बैंगलोर का कोई निवासी स्वर्गवासी हो जाएगा।

यह ज्ञान की बहुत ही कड़ी परिभाषा है। आपमें से कई लोग कड़ाई की इस मांग को पूरी तरह से अनुचित मानेंगे, क्योंकि यह किसी भी चीज के बारे में ज्ञान को बहुत मुश्किल चीज बना देगी। लेकिन मेरा पक्का मानना है कि अगर बात 'ज्ञान के उत्पादन' की हो रही हो तो इस तरह की सख्त परिभाषा आवश्यक होगी। हम सब जानते हैं, सिद्धांत तब तक 'सिद्धांत' नहीं होता जब तक कि वह किसी घटना की व्याख्या, वर्णन और भविष्यवाणी न कर सके, वह घटना प्राकृतिक हो चाहे सामाजिक। जिस ज्ञान की ये विशेषताएं न हों, उसे एक जायज हद तक की सटीक व्याख्या या वर्णन या भविष्यवाणी में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। इसीलिए मेरा कहना है, हम सिद्धांत पढ़ाते ही नहीं हैं; हम तो बस कथनों को पुनः याद करना भर सिखाते हैं और वह भी आधे समझे हुए, बिना विश्वास और औचित्य के, तथा अक्सर गलत और झूठे।

इस सबमें शिक्षाशास्त्र कहां आता है? लेकिन उस तक पहुंचने से पहले हमें 'ज्ञान निर्माण' और 'ज्ञान के उत्पादन' के बीच के अन्तर को समझना होगा।

ज्ञान निर्माण

जिसे पहले ज्ञान का 'सीखना', 'हासिल करना', उसे 'प्राप्त करना' कहा जाता था, उसे अब शिक्षाशास्त्र के रचनावादी मानक में 'ज्ञान का निर्माण' कहा जाता है। इस बदलाव के पीछे का विचार यह है कि ज्ञान को एक मस्तिष्क से दूसरे तक उस तरह 'हस्तांतरित' नहीं किया जा सकता, जैसे हम मटके से जग में या बोतल से गिलास में पानी को हस्तांतरित करते हैं। जो ज्ञान हासिल करना चाहता है उसे अपने पास पहले से मौजूद अवधारणाओं और ज्ञान के माध्यम से खुद सक्रिय भागीदारी करते हुए इसे अपने दिमाग में निर्मित पड़ता है। इस अर्थ में ज्ञान-निर्माण एक ऐसी शिक्षाशास्त्रीय शब्दावली है जो सीखने वाले की मानसिक गतिविधि को केन्द्र में ले आती है। लेकिन विद्यालय और महाविद्यालय के भीतर इस तरह जो ज्ञान निर्मित होता है वह तो लगभग वह ज्ञान होता है जो मानव जाति के पास पहले से मौजूद है। शिक्षार्थी के लिए चाहे वह नया हो लेकिन इसमें बमुश्किल ही कुछ ऐसा होता है जो मानव जाति के लिए नया हो।

ज्ञान का सृजन

मुझे ज्ञान के लिए 'उत्पादन' शब्द का इस्तेमाल पसन्द नहीं है। यह मुझमें आलू के चिप्स या टी.वी. सीरियल या मोबाइल फोन आदि के उत्पादन का सा एहसास जगाता है और असेम्बली लाइन का भी। इन सब उदाहरणों में प्रक्रिया जानी-पहचानी, अच्छे से स्थापित, एक खास रुटीन में होती है, और लोग इन चीजों को बिना कोई खास दिमाग लगाए बहुतायत में उत्पादित कर सकते हैं और इस प्रक्रिया में कुछ भी ऐसा नहीं बनाया जाता जो नया हो या पहले से अज्ञात हो।

इसलिए अगर हम ज्ञान के उत्पादन का अर्थ मानव की समझ की सीमाओं को बढ़ाते हुए नए ज्ञान का सृजन मानते हैं तो यह सही शब्द नहीं है। यह असल में हमें भटका देता है, उसी तरह जैसे आजकल के शैक्षिक विमर्श में अन्य कई शब्द भटकाते हैं। मैं इसे ज्ञान का सृजन कहूंगा और 'निर्माण' तथा 'सृजन' में सशर्त एक अन्तर करूंगा। निर्माण का इस्तेमाल मैं पहले से मानव की जानकारी में मौजूद ज्ञान को किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में पुनः रचे जाने के लिए करूंगा और सृजन का उपयोग किसी ऐसी बात को 'अब जान पाने' के सूचक के रूप में जो पहले मानव जाति की जानकारी में नहीं थी।

मेरी राय में जो बात इमैनुअल कान्ट वैज्ञानिक ज्ञान के संबंध में कहते हैं, 'ज्ञान की रचना' में भी ऐसा ही कुछ हैः

> *''बुद्धि को यदि प्रकृति द्वारा सिखाया जाना है तो उसे एक हाथ में उन सिद्धांतों को रख कर प्रकृति की ओर बढ़ना होगा जिनके मुताबिक लक्षणों में अनुरूपता और सहमति को नियम माना जा सकता है और दूसरे हाथ में रखना होगा इन सिद्धांतों के अनुरूप विचारा गया परीक्षण ताकि प्रकृति द्वारा यूं शिक्षित न किया जाए जैसे कोई शिष्य जो शिक्षक की इच्छानुसार वही बोलता है जो शिक्षक बोलना चाहता है, बल्कि उस नियुक्त न्यायाधीश की तरह शिक्षित किया गया हो जो गवाह को अपने सवालों के जवाब देने को विवश कर दे।''*

कान्ट यहां यह नहीं सुझा रहे कि 'प्रकृति' ज्ञान देती है बल्कि यह कि मानव की बुद्धि द्वारा उसे अनुभव के आधार पर रूप दिया जाता है।

शिक्षाशास्त्र

अब हम शिक्षाशास्त्र पर आ सकते हैं। यह शिक्षण की कला या तरीका है। यह केवल सिखाने की कुछ विशेष तकनीक या गतिविधि या कक्षा-प्रबंधन नहीं है। यह सब शिक्षाशास्त्र में शामिल है लेकिन साथ ही यह शिक्षा के उद्देश्यों, बच्चे की सामाजिक स्थिति और उसके मस्तिष्क के बारे में भी सजग होता है। यह बच्चे को उसके मौजूदा मानसिक स्तर से उस स्वीकार्य मानवीय-ज्ञान तक ले जाने की कला है जो आप बच्चे को देना चाहते हैं। और उसकी गतिविधियां हमेशा एक ओर से तो शिक्षा के उद्देश्यों दूसरी ओर शिक्षार्थी के मस्तिष्क के साथ तालमेल रखती हैं।

इस अर्थ में शिक्षाशास्त्र 'ज्ञान के निर्माण' से सम्बद्ध है न कि 'ज्ञान सृजन' से। किन्तु ज्ञान सृजन की क्षमताओं पर भी इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षाशास्त्र के लिहाज से शिक्षण के खराब तरीकों से सीखे हुए व्यक्ति के मुकाबले बेहतर शिक्षण तरीकों से सीखे हुए व्यक्ति में 'नया ज्ञान सृजन' कर पाने की गुंजाइश अधिक होती है।

कान्ट के एक और मशहूर कथन को लेते हैंः

''अंतरानुभूति के बिना विचार खाली होते हैं, अवधारणाओं के बिना अंतरानुभूति अन्धी।'' यानी विचारों और ऐन्द्रीय अनुभूतियों का अवधारणाओं के माध्यम से मेल होना होगा। जो विचार हमारे मस्तिष्क में कोई अर्थ न जगाते हों, वे 'खाली' हैं, किसी काम के नहीं हैं। और ऐन्द्रीय अनुभूतियों के माध्यम से जन्मे, विचारों से असंबद्ध बिम्ब अंधे हैं, उनसे हमें कोई रोशनी नहीं मिलती। इसलिए प्रत्येक विचार को कोई अर्थ जगाना होगा और प्रत्येक बिम्ब को किसी विचार के साथ संबद्ध होना होगा और यही ज्ञान-निर्माण का आशय है।

तो किस तरह का शिक्षाशास्त्र शिक्षण में इस प्रकार सहायक हो सकता है कि शिक्षार्थी विद्यालय, महाविद्यालय में रहते हुए ज्ञान निर्मित कर सकें और वयस्क होने पर उसका सृजन कर सकें?

मुझे अपनी बात संक्षेप में करनी है इसलिए मैं अब शिक्षा के दो महान दार्शनिकों, जॉन ड्यूई तथा इसराइल शेफ्लर से कुछ बातें उधार लूंगा। ड्यूई 1902 में प्रकाशित अपनी छोटी सी मशहूर पुस्तक ''द चाइल्ड एण्ड द करिकुलम'' में अपने समय की परंपरागत शिक्षा और बाल-केन्द्रित शिक्षा के बीच एक समझौता प्रस्तावित करते हैं। वे समस्या

इस बात में देखते हैं कि दोनों ओर के लोग कट्टर दृष्टिकोण रखते हैं। बाल-केन्द्रित पद्धति के लोग यह मानकर चलते हैं कि बच्चे की रुचियां और सामर्थ्य ही अकेले मार्गदर्शक हैं; ये लोग ज्ञान की मानवीय परम्पराओं को अनदेखा करते हैं। दूसरी ओर परंपरावादियों का मानना है कि सारा महत्व पाठ्यक्रम में संहिताबद्ध ज्ञान का है लेकिन वे बच्चे की रुचियों और सामर्थ्य को अनदेखा करते हैं। मैं इस छोटी पुस्तक से तीन विचार अपने वर्तमान उद्देश्यों के लिए उठाता हूं:

ड्यूई ''पाठ्यचर्या के मनोवैज्ञानीकरण'' का सुझाव देते हैं। उनके कहने का अर्थ है कि बच्चे के मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक बुनावट को; उसकी रुचियों, समझने के उसके तरीकों, उसके मौजूदा अवधारणात्मक रंग-पटल और उस के अनुभव आदि को ध्यान में रखते हुए समझा जाए। दूसरी बात उस संहिताबद्ध मानव-ज्ञान को देखने की है जो आप चाहते हैं कि वह हासिल करे। साथ ही, बच्चे के मस्तिष्क और उस ज्ञान के बीच के संबंध को समझने की बात भी है। तीसरा, एक ऐसे पथ को बनाने की बात है जहां से बच्चा उस ज्ञान तक पहुंच सके जो आप चाहते हैं कि वह हासिल करे। इसका सार-संक्षेप यह हो सकता हैः

1. बच्चा जहां है, वहां से शुरू करें।
2. पाठ्यचर्या का मनोवैज्ञानीकरण करें।
3. उद्देश्य मौजूदा संहिताबद्ध मानव-ज्ञान को समझने का हो।

अब हम इजरायल शेफ्लर पर आते हैं और उनके निबंध ''फिलोसोफिकल मॉडल्स ऑफ टीचिंग'' से तीन मुख्य बातें लेते हैं। इस निबन्ध में शेफ्लर की दलील सीखने वाले की समझ और स्वायत्तता को ले कर है। अपनी मौजूदा चर्चा के लिए हम उनसे तीन संकेत ले सकते हैंः

1. अवधारणाओं के साथ सीखना सुनिश्चित हो; यानी बच्चे के लिए स्पष्ट बोधात्मक अर्थ निकलें।
2. बच्चे को सिखाएं कि वह सिखाई गई हर बात के औचित्य की मांग करे और शिक्षक समेत हर प्रकार के अधिकारी से सवाल करे।
3. बच्चा अपनी तार्किक जांच पर खरा उतरने वाली बात को ही स्वीकारे भले ही वह कितनी ही अपरिपक्व क्यों न हो।

मुझे एहसास है कि ये किसी भी शिक्षक के लिए पूरी की जाने वाली मुश्किल शर्तें हैं। लेकिन ज्ञान का 'सृजन' भी आसान तो नहीं है। पीतल और सोना, दोनों ही किसी अनुभवहीन नजर को एक से दिखाई देते हैं। इसके बावजूद, आपको पीतल की कीमत में सोना नहीं मिलेगा। आप सोना चाहते हैं तो आपको उसकी कीमत चुकानी होगी या फिर पीतल पर ही गुजारा करना होगा। यहां भी वही बात है अगर हम ज्ञान का 'सृजन' चाहते हैं, तो हमें उपयुक्त शिक्षाशास्त्र की आवश्यकता होगी या फिर 'किसी ऐसी चीज को उगलने से सन्तुष्ट होना होगा जो दिखाई तो ज्ञान जैसी देती है' मगर है काफी घटिया।

संभव है कि ऐसा शिक्षाशास्त्र ज्ञान का सृजन करने में सहायक औजार प्रदान करेगा। लेकिन इसकी कोई गारण्टी नहीं है और इसीलिए शिक्षाशास्त्र निश्चित विज्ञान की बजाय कला अधिक है और यही कारण है कि शिक्षाशास्त्रीय बेहतरी के लिए अपनाई जाने वाली प्रबंधकीय पद्धतियां कम फलदाई रहती हैं। किन्तु किसी प्रकार की सुनिश्चित पद्धति का अभाव होने के बावजूद यह इस लायक है कि इसके लिए कोशिश की जाती रहनी चाहिए। ◆

(यह लेख 23 मई, 2015 को बैंगलोर में अखिल भारतीय जन विज्ञान कांग्रेस में दिए गए व्याख्यान का हिन्दी रूपान्तरण है)

1. http://www.indiaonlinepages.com/population/bangalore-population.html

लेखक परिचयः रोहित धनकर अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य एवं अकादमिक सलाहकार हैं।

भाषान्तरः रमणीक मोहन

धारावाहिक, बच्चे और टेलीविजन

एक अंतःक्रिया

मिली भटनागर

"आज के दौर में बच्चे टेलीविजन के साथ किस तरह अंतःक्रिया करते हैं? इस अंतःक्रिया में बच्चों की भूमिका क्या होती है? टेलीविजन देखने के दौरान बच्चे धारावाहिक की कहानी को किस तरह ग्रहण करते हैं? और टेलीविजन बच्चों के जीवन में किस तरह शामिल है? आदि सवालों का जवाब तलाश करता मिली भटनागर का यह आलेख एक छोटे से शोध पर आधारित है।"

भारतीय परिप्रेक्ष्य में टी.वी. को लेकर ज्यादातर चिंतन धारावाहिकों के विषय-वस्तु पर सिमट जाता है। प्रसिद्ध भारतीय धारावाहिक अपनी विषय-वस्तु के लिए काफी आलोचना सह रहे हैं। कहानियों का कलात्मक स्तर काफी नीचे जा चुका है। निश्चित ही यह धारावाहिक सामाजिक पूर्वाग्रहों को अपना ढांचा बनाकर कहानी को आगे बढ़ाते हैं। खासकर औरतों और पुरुषों के लिंग व्यवहार में गहराई नहीं दिखाई जाती, बल्कि रूढ़िवादी लिंग व्यवहार को हमेशा बढ़ावा दिया जाता है। ऐसे में जाहिर है यह चिंता होती है कि हमारे बच्चों पर प्रसिद्ध धारावाहिकों का क्या प्रभाव पड़ रहा है।

एक कार्यक्रम की अवधि कम से कम आधा घंटा होती है। सोचने वाली बात है कि क्या इस आधे घंटे की टी.वी. देखने की पूरी प्रक्रिया में सिर्फ धारावाहिक की कहानी महत्वपूर्ण है? इस प्रश्न को समझने के लिए दूसरा प्रश्न करते हैं। एक फिल्म सिनेमाघर में भी देखी जा सकती है और घर में टी.वी. पर भी। पर क्या हम एक ही फिल्म की कहानी को दोनों माध्यम से एक जैसा ही ग्रहण करते हैं? नहीं। तो क्या इसका मतलब यह है कि सिर्फ विषय-विस्तु ही नहीं, मीडिया के माध्यम पर भी यह निर्भर करता है कि हम किसी कहानी की क्या समझ बनाते हैं। जरा और बारीकी से सोचते हैं। अगर दो बच्चे साथ में एक ही धारावाहिक देखें तो क्या दोनों कहानी की एक ही समझ बनाएंगे? नहीं। पियाजे के काम ने काफी गहराई से यह समझाया है कि बच्चे निष्क्रिय नहीं होते हैं। वह सक्रियता के साथ अपने वातावरण में हो रही गतिविधियों की समझ विकसित करते हैं। तो क्या यह बात घर के बैठक में जहां टी.वी. देखा जाता है, उतनी ही वैध नहीं है जितनी कि एक कक्षा में? इसलिए जब हम मानते हैं कि धारावाहिक का बच्चों पर प्रभाव पड़ता है तब हम बच्चे की भूमिका को निष्क्रिय मान लेते हैं। बच्चों पर धारावाहिक का असर नहीं पड़ता बल्कि बच्चे धारावाहिक को सक्रियता के साथ देखते हैं, इसलिए बच्चे धारावाहिक की कहानी को ग्रहण करते हैं। टी.वी. देखने की पूरी प्रक्रिया में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं धारावाहिक, टी.वी. और बच्चा खुद।

"अभी तक हुए अध्ययनों पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि इस प्रक्रिया को समझने की कोशिश नहीं हुई है। ज्यादातर अध्ययनों में बच्चों, माता-पिता तथा शिक्षकों से प्रश्न पूछकर, वो भी तब जब बच्चा टी.वी. देख भी नहीं रहा होता, यह पता लगाने की कोशिश की जाती रही है कि धारावाहिकों का बच्चों पर क्या असर पड़ता है।"

मीडिया जगत के प्रभावशाली चिंतकों में से एक मार्शल मैक्लुहान थे। उनके मुताबिक मीडिया मानव जीवन में सामाजिक व मनोवैज्ञानिक बदलाव पैदा करता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कोई भी मीडिया व्यक्ति के शरीर में प्रसार (extension) पैदा करता है। उदाहरण के लिए मशीनरी, मशीनरी, आने से पहले व्यक्ति सारा कार्य खुद के शरीर से करते थे। जब मशीनरी आई तो हर कार्य के लिए अलग मशीन बनी जो कि एक बार में शरीर के कुछ विशिष्ट अंगों के द्वारा ही संचालित हो सकती है। इसलिए मशीनरी ने मानव जीवन में विखंडन (fragmentation) पैदा किया।

तो जब शरीर के एक हिस्से का प्रसार होता है, तब शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है। संतुलन वापिस पाने के लिए व्यक्ति का शरीर प्रतिक्रिया देता है। अब किस हिस्से में प्रसार होगा और संतुलन कैसे वापिस पाया जाएगा, यह निर्भर करता है मीडिया के माध्यम पर। मैक्लुहान ने इसे ऐसे रखा, ''माध्यम ही संदेश है'', विषय वस्तु हमें संदेश के ऊपर ध्यान देने से भटका देती है।

इन सभी बातों का सार यह निकल कर आता है कि धारावाहिक देखने की प्रक्रिया में धारावाहिक, टी.वी. व बच्चे की अपनी भूमिकाएं होती हैं, जिनका अवलोकन अपनी स्वाभाविक परिस्थिति में करना चाहिए। पर जब हम अभी तक हुए अध्ययनों पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि इस प्रक्रिया को समझने की कोशिश नहीं हुई है। ज्यादातर अध्ययनों में बच्चों, माता-पिता तथा शिक्षकों से प्रश्न पूछकर, वो भी तब जब बच्चा टी.वी. देख भी नहीं रहा होता, यह पता लगाने की कोशिश की जाती रही है कि धारावाहिकों का बच्चों पर क्या असर पड़ता है। इसलिए इस प्रक्रिया को समझने के लिए एक छोटा सा अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के उद्देश्य थे-

- स्वाभाविक सेटिंग में धारावाहिक देखने की प्रक्रिया के दौरान हो रही अंतःक्रियाओं का विश्लेषण करना
- अंतःक्रिया में बच्चे, टी.वी. व धारावाहिक की भूमिका को समझना
- बच्चे प्रसिद्ध धारावाहिकों की कहानियों का क्या अर्थ निकालते हैं समझना

अध्ययन की विधि

इस अध्ययन की संकल्पना इस तरह की गई थी कि बच्चों के साथ मिलकर टी.वी. देखने की प्रक्रिया का अनुभव किया जा सके। इस अध्ययन में माता-पिता एवं शिक्षकों को शामिल नहीं किया गया था और बच्चों से उनके सामने बात नहीं की गई। दो विधियों का प्रयोग किया गया- साक्षात्कार और अवलोकन। साक्षत्कार को इसलिए चुना गया ताकि यह पता किया जा सके कि बच्चे की धारावाहिक अथवा टी.वी. देखने की प्रक्रिया के बारे में खुद की क्या समझ है। साक्षात्कार के लिए पहले से ही प्रश्न तैयार कर लिए गए थे। विशेष रूप से ऐसे प्रश्न बनाए गए थे जिनसे यह पता किया जा सके कि बच्चे को धारावाहिक में क्या पसंद और क्या नापसंद है तथा वह कहानी पर कहां और कितना ध्यान देता है। यह भी पता चल सके कि वह टी.वी. देखने के दौरान क्या क्रियाएं करता है। अवलोकन को इसलिए चुना गया ताकि शोधकर्ता स्वयं इस प्रक्रिया का अनुभव कर पाए। इस विधि में यह भी किया जा सकता था कि साक्षात्कार में मिले जवाब कितने सही थे।

साक्षात्कार की जगह एवं तरीका

क्योंकि अध्ययन का एक बेहद महत्वपूर्ण हिस्सा था टी.वी. देखने की प्रक्रिया का स्वाभाविक सेटिंग में अनुभव करना, इसलिए शोध कर्ता ने बच्चों के घरों में जाकर साथ में उनका मनपसंद धारावाहिक देखा। इस दौरान बच्चे का व्यवहार व कमरे में हो रही सभी गतिविधियों को नोट किया गया। धारावाहिक समाप्त होते ही बच्चों को अकेले में ले जाकर साक्षात्कार लिया गया। साक्षात्कार तुरंत बाद इसलिए लिया गया ताकि बच्चों का टी.वी. देखने का अनुभव ताजा रहे।

बच्चों का चयन

क्योंकि इस अध्यय का उद्देश्य बच्चों के टी.वी. देखने की प्रक्रिया की समझ बनाना था, सामान्यीकरण नहीं व अध्ययन को छः महिने के भीतर समाप्त करना था, इसलिए एक छोटा सैम्पल चुना गया। सैंपल इस प्रकार था- 11-13 वर्षीय उम्र के दस बच्चे जिनमें पांच लड़के व पांच लड़कियों को चुना गया। सभी से उनके साथ अध्ययन करने की अनुमति मांगी गई। सभी बच्चे गाजियाबाद शहर के रहने वाले थे व वहीं के विद्यालयों में पढ़ रहे थे। सभी अंग्रेजी माध्यम प्राईवेट विद्यालयों में पढ़ रहे थे और सभी मध्यमवर्गीय परिवार से आते थे।

विश्लेषण

कौन से धारावाहिक देखे गए

सभी बच्चों ने कहा कि वह एक दिन में चार से अधिक धारावाहिक नहीं देखते। एक बच्चा सात कार्यक्रम देखता था, परन्तु उनमें से पांच कार्टून थे और दो धारावाहिक। सभी अलग-अलग धारावाहिक देख रहे थे, कुछ ही धारावाहिक थे जो कि सब में सामान्य थे। इन धारावाहिकों को देखने के कारण भी अलग-अलग थे, परन्तु अधिकतर कारणों में एक बात सामान्य थीः धारावाहिक में हास्य का मौजूद होना। बच्चों को यह भली भांति ज्ञात था कि धारावाहिक का पुनः प्रसारण किस समय होता था और जब भी संभव हो, वह पुनः प्रसारण देख लेते थे।

टी.वी. नेटवर्क पर अनेक चैनलों की उपस्थिति दर्शकों को अनेक विकल्प प्रदान करती है। इन बच्चों के पास भी कई विकल्प मौजूद थे। तारक मेहता का उल्टा चश्मा जो कि मध्यम वर्गीय परिवारों के रोजमर्रा के जीवन व पड़ोसियों के साथ परस्पर क्रिया पर आधरित था व हास्य शैली का धारावाहिक था। दस में से सात बच्चे देखते थे व पसंद करते थे।

धारावाहिक तालिका

- अकबर बीरबल
- मेरे रंग में रंगने वाली
- घर जमाई
- महाकुंभ
- तारक मेहता का उल्टा चश्मा
- कुमकुम भाग्य
- जोधा अकबर
- कुबूल हैं
- निशा और उसके कजिन्स
- तू मेरा हीरा
- मेरी आशिकी तुमसे ही
- ये है मोहब्बतें
- इस प्यार को क्या नाम दूं
- चिड़िया घर
- सड्डा हक
- यम हैं हम
- शास्त्री सिस्टर्स
- बड़ी दूर से आए हैं।

"बच्चों के सबसे ज्यादा नापसंद किरदार भी अधिकतर पुरुष थे। इन किरदारों को धारावाहिक में ज्यादातर बुरे काम करते हुए दिखाया गया था। वह हमेशा हीरो-हीरोईन के खिलाफ चालबाजी करते थे, लोगों को उनके खिलाफ भड़काते थे और हमेशा उन्हें परेशान करते रहते थे।"

किस पर जोर दिया गया

कौन हीरो है और कौन हीरोईन, यह बात बच्चों को स्पष्ट रूप से मालूम थी। उनके हिसाब से पूरे धारावाहिक में एक या ज्यादा से ज्यादा दो हीरो थे और एक हीरोईन। बच्चों ने बताया कि शीर्षक से साफ हो जाता है कि धारावाहिक के कौन से किरदार हीरो-हीरोईन हैं, व यह कोई बड़ी बात नहीं है, ''अपने आप पता चल जाता है।'' उन्होंने इन हीरो-हीरोईन को वास्तविक नाम की जगह उनके किरदारों के नाम से संबोधित किया। जब वो किसी और से धारावाहिक के बारे में चर्चा करते थे, तब भी किरदारों का ही नाम उपयोग करते थे, वास्तविक नाम नहीं। जैसे कि एक धारावाहिक में नई नायिका का प्रवेश हुआ और बच्चे ने उसे पहचान लिया। उसकी मां ने पूछा ''कौन है यह?'' तो उसने जवाब में नायिका के पूर्व धारावाहिक में किरदार का जो नाम था, वह लिया।

बच्चों से पूछा गया था कि धारावाहिकों में हीरो-हीरोईन क्या करते हैं। इन धारावाहिकों में से किसी में हीरो एक राजा था जो न्याय करता था, किसी में एक दरबारी था जो समझदार था, कहीं एक आदमी जो कार चालक से बढ़ा व्यापारी बन गया, किसी में एक आदमी जिसकी खुद की इलैक्ट्रॉनिक्स की दुकान थी, कहीं एक सूत्रधर था जो सबकी परेशानी हल करता था। यहां तक कि हीरो एक ऐसा आदमी भी था जो कुछ भी नहीं करता था फिर भी लड़कियां उसके पीछे पड़ी रहती थीं। इन सभी में जो गुण सामान्य थे वो यह कि हीरो हमेशा उच्च या उच्च-मध्यम आर्थिक श्रेणी का सफल व्यक्ति था जो कभी गलत काम नहीं करता था। इसी के बरक्स किसी में हीरोईन एक महिला थी जो अपने पति को परेशान करती रहती थी, तो किसी में एक ऐसी महिला थी जो अपने पति को सांत्वना देती थी व खुद की भावनाओं को नियंत्रित रखती थी, कहीं एक गृहणी थी जो स्वादिष्ट भोजन पकाती थी, किसी में एक भोली, समझदार लड़की थी जो हीरो को प्यार करती थी, यहां तक कि ऐसी महिला भी थी जो पहले तो अच्छी नौकरी करती थी पर अब हीरो की पत्नी बनकर रह गई। इन सभी महिलाओं में सामान्य बात यह थी कि वे कामकाजी महिला नहीं थीं। सभी बच्चों ने हीरोईनों की पहचान को हीरो से जोड़ा था, जो कि सभी बताये गए किरदारों में उनके पति थे। हीरोईन भी एक उच्च या उच्च-मध्यम आर्थिक श्रेणी से आती थी।

बच्चों से यह भी पूछा गया था कि वह धारावाहिक में किसे पसंद और नापसंद करते है। सभी के पसंदीदा किरदार ज्यादातर पुरुष थे। इनमें से आधे बच्चों को एक महिला किरदार भी बेहद पसंद था, परन्तु इसके साथ उन्हें उनका पुरुष साथी भी उतना ही पसंद था। किसी को भी दो से ज्यादा किरदार पसंद नहीं थे। उल्लेखनीय है कि यह सभी पसंदीदा कलाकार धारावाहिकों के हीरो, हीरोईन थे। इन किरदारों को पसंद करने के सभी बच्चों के अपने अलग कारण थे। लेकिन यह सभी कारण किरदारों की अच्छाई या अच्छा काम करने की क्षमता की तरफ इशारा कर रहे थे। जैसे कि पुरुष किरदारों को पसंद करने के कुछ कारण थे उनका हास्यास्पद होना, अपने परिवार के लिए त्याग करना, यहां तक कि उनका स्वादिष्ट भोजन पसंद करना। महिला किरदारों को पसंद करने के कारण थे उनका शांत स्वभाव का होना या सुंदर कपड़े पहनना। एक बच्चे ने सीधे-सीधे यह जवाब दिया कि उसे हीरो-हीरोईन इसलिए सबसे ज्यादा पसंद थे क्योंकि वह धारावाहिक के मुख्य कलाकार थे। बच्चों के सबसे ज्यादा नापसंद किरदार भी अधिकतर पुरुष थे। इन किरदारों को धारावाहिक में ज्यादातर बुरे काम करते हुए दिखाया गया था। वह हमेशा हीरो-हीरोईन के खिलाफ चालबाजी करते थे, लोगों को उनके खिलाफ भड़काते थे और हमेशा उन्हें परेशान करते रहते थे। आठ बच्चों ने पूरे धारावाहिक में सिर्फ एक ही किरदार को नापसंद किया। इन किरदारों को नापसंद करने का मुख्यतः एक ही कारण दिया कि ''वह बुरे हैं''।

यह सवाल भी किया गया कि धारावाहिक में सबसे सुंदर कपड़े कौन पहनता है। तीन बच्चों ने किसी का भी नाम नहीं लिया और कहा कि वो इस चीज पर ज्यादा ध्यान नहीं देते। बाकियों ने जिस भी किरदार का नाम लिया वो उनके खुद के लिंग का था। यह सभी किरदार भी धारावाहिक के हीरो-हीरोईन थे।

जब बच्चों से बोला गया कि समझाएं कि उस दिन के धारावाहिक में क्या-क्या हुआ तो सिर्फ एक बच्चे ने कहानी को बारिकी से सुनाया। बाकी सभी ने कहानी सुनाने के लिए कुछ हिस्से चुने। सभी ने कहानी के वो अंश चुने जो कि मुख्य पात्रों पर आधरित थे। धारावाहिक का कोई भी ऐसा दृश्य नहीं चुना गया जहां पर हीरो-हीरोईन शारीरिक रूप से मौजूद नहीं थे। बचे हुये दृश्यों में से भी सिर्फ उन्हीं दृश्यों को चुना गया जिनमें कोई साजिश रची गई थी या कोई विवाद हुआ था। किसी भी दृश्य में हुई बातचीत को बारिकी से नहीं बताया गया। धारावाहिक के पहले दृश्यों का जिक्र किसी ने भी नहीं किया। सभी ने अपनी खुद की भाषा का उपयोग किया, धारावाहिक में बोले गए संवादों का नहीं। मुख्य किरदारों का नाम उन्होंने वैसे का वैसा ही लिया परन्तु बाकी किरदारों को उनके हीरो-हीरोईन से जो संबंध था, उस नाम से संबोधित किया। जैसे कि टीटू की चाची, रनवीर की मां आदि जबकि इन किरदारों के नाम दृश्य में लिए गए थे। कुछ बच्चों ने दृश्यों में से कुछ ऐसे शब्द चुने, जो कि उनके खुद के संदर्भ में आम नहीं थे। जैसे की कबिला, वलिहाद आदि। एक बच्चे ने मुगल सम्राट के बारे में अपनी खुद की जानकारी को कहानी सुनाते वक्त इस्तेमाल किया, जबकि वह हिस्सा धारावाहिक में नहीं दर्शाया गया था।

“ बच्चों से यह भी पूछा गया कि अगर वे कहानी के मुख्य पात्र होते तो क्या करते। सभी जवाबों में एक बात सामान्य थी कि वे लोग “अच्छा व्यवहार” करते व किसी भी विवाद को होने से पहले रोक देते। ”

बच्चों से यह भी पूछा गया कि अगर वे कहानी के मुख्य पात्र होते तो क्या करते। सभी जवाबों में एक बात सामान्य थी कि वे लोग ‘‘अच्छा व्यवहार’’ करते व किसी भी विवाद को होने से पहले रोक देते।

इन सभी बातों से यह पता चलता है कि बच्चे पूरे धारावाहिक में सबसे ज्यादा ध्यान हीरो-हीरोईन पर दे रहे थे। वो क्या करते हैं, क्या पहनते हैं, कौन सी परेशानियों का सामना करते है, यह सब उन्हें पता था। उनके हीरो-हीरोईन हमेशा सही काम करते थे और अंत में सफल हो जाते थे। उन्होंने हीरो-हीरोईन की पहचान को लिंग संबंधित रूढ़िवादी पैमानों पर ही व्यक्त किया। बच्चों ने पूरी कहानी पर एक जैसा ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उन दृश्यों पर ज्यादा ध्यान दिया जहां पर कोई साजिश थी या कोई विवाद हुआ। उन्होंने पूरी कहानी को नैतिक सही और गलत के ढांचे के भीतर रहते हुए जांचा।

विज्ञापन के दौरान क्या हुआ

बच्चों से यह पूछा गया था कि धारावाहिक के बीच कितनी बार और कौन से विज्ञापन आते हैं। किसी ने भी इसका सही जवाब नहीं दिया। एक बच्चे ने सीधे बोला कि उसने कभी यह गिनती नहीं की। किसी को भी सात से ज्यादा विज्ञापनों के नाम याद नहीं थे। नाम बोलते वक्त उन्होंने वस्तु का नाम व ब्रांड दोनों उपयोग किए। जैसे कि कोलगेट, आईडिया, कटी ऐड़ियों वाला, कार पॉलिसी का, चीजी पीजा रेगुलर साईज, आलिया भट्ट का स्कूटी वाला आदि। उन्होंने किसी भी ऐसे विज्ञापन का नाम नहीं लिया जिसका उनकी जिंदगी में कोई संदर्भ या उपयोग न हो।

किसी भी और गतिविधि से अधिक, विज्ञापन साधन बनते थे धारावाहिक की कहानी की लय को तोड़ने का। इसलिए बच्चे भी कहानी के अर्थ का निर्माण निरंतरता (continuation) में नहीं कर पाते थे। जैसे ही विज्ञापन आता था बच्चे दूसरे कार्यक्रम देखने लग जाते थे। अगर वो कार्यक्रम नहीं बदलते थे तो टी.वी. की ध्वनि कम कर देते थे। स्क्रीन पर प्रदर्शित टाइमर उन्हें धारावाहिक को वापिस समय पर लगाने में मदद कर देता था। अगर विज्ञापन अन्य किसी कार्यक्रम के बारे में होता था तो उसे पूरा देखकर ही दूसरा कार्यक्रम लगाया जाता था। उन्होंने विज्ञापन का समय बाहर आने-जाने व अन्य कार्य करने के लिए भी उपयोग किया।

यह दर्शाता है कि धारावाहिक को कभी एक लय में नहीं देखा गया। न सिर्फ लय टूटती थी, बल्कि विज्ञापनों के दौरान ध्यान दूसरी जगहों पर भी केंद्रित हो जाता था।

"टी.वी. देखते वक्त भी बच्चे अपनी सामाजिक भूमिकाओं में बंधे हुए होते हैं। वह प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं, लिंग व्यवहार करते हैं यहां तक कि एक मेजबान की भूमिका भी निभाते हैं।

...धारावाहिक टी.वी. में आ रही एक असत्य वास्तविकता नहीं रह जाता, बल्कि घर परिवार के यथार्थ के साथ सतत रूप में शामिल हो जाता है।"

बच्चे इस बात का चयन करते थे कि कौन-सा कार्यक्रम देखा जाए। विज्ञापनों पर उनका ध्यान कम था।

टी.वी. कहां और कैसे देखा जाता है-

सभी बच्चों के घरों में टी.वी. बैडरूम या बैठक में रखा हुआ था। कमरों में काफी सामान था तथा ज्यादातर खाली जगह फर्नीचर ने घेर रखी थी। जिससे घूमने फिरने की जगह कम बची थी। जब भी कोई व्यक्ति कमरे में चहल-पहल करता था तब वो ज्यादातर टी.वी. और बच्चे के बीच में आ जाता था। अधिकतर टी.वी. कोने में किसी ट्रॉली पर रखा होता था। उसके ऊपर ढंकने के लिए एक कपड़ा होता था जो ऊपर की स्क्रीन का कुछ हिस्सा ढंक देता था। कुछ छोटी-मोटी सजावट की वस्तुएं आस-पास या टी.वी. के ऊपर रखी होती थीं। इन सभी चीजों पर टी.वी. देखते समय नजर आसानी से जा सकती थी। टी.वी. हमेशा रोशनी में देखा जाता था, अंधेरे में नहीं। इससे यह पता चलता है कि बच्चे की आंख को टी.वी. स्क्रीन पर ध्यान केंद्रित करने के लिए आस-पास में मौजूद सभी नजारों की उपेक्षा करनी पड़ती थी। टी.वी. की ध्वनि एक ऐसे स्तर पर होती थी कि कमरे में मौजूद अन्य आवाजें भी सुनी जा सकें। एक धारावाहिक के दौरान ध्वनि को समय-समय पर कम या ज्यादा किया जाता था, खासकर विज्ञापन के दौरान ध्वनि को कम ही रखा जाता था। आधे घंटे के एक कार्यक्रम में टी.वी. की आवाज ही एकमात्र आवाज नहीं होती थी। व्यक्तियों की बातचीत, बाहर खड़े कुत्ते का भौंकना, हीटर का शोर, रसोई में बर्तनों का खटकना, जेनरेटर की गड़गड़, सब्जीवाले की पुकार, मोबाईल की घंटी व ऐसी कई और आवाजें मिलकर कमरे का ध्वनि वातावरण परिभाषित करती थीं। यह वातावरण इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि बच्चे का कान इन सब ध्वनियों के बीच टी.वी. की आवाज पर ध्यान केंद्रित कर रहा था।

बच्चे टी.वी. देखते वक्त आरामदायक कपड़ों में होते थे। वे सोफे या बिस्तर पर आल्ती-पाल्ती मारकर बैठते थे। कभी-कभी कम्बल भी ओढ़ लिया करते थे। एक धारावाहिक के दौरान उनकी बैठने की मुद्रा लगातार बदलती रहती थी। एक पल वो बैठे होते थे तो दूसरे ही पल वो लेट जाते थे। उनके बैठने का स्थान भी बदलता रहता था। कुछ देर के लिए वह सोफे पर हैं, तो कुछ देर बाद रसोई में चले गए, वापस आए और बिस्तर पर बैठ गए। जब वह टी.वी. देख रहे होते थे, तब वह अपनी नजर स्क्रीन पर से नहीं हटाते थे। उनके चेहरे के भाव ज्यादा नहीं बदलते थे, बस कभी-कभी हंसी आ जाती थी। कभी वह खुद से ही बातें करते थे। कभी कोई व्यक्ति कमरे में चलते-फिरते, टी.वी. और बच्चे के बीच में आ जाता था। बच्चों ने स्वीकारा कि अगर टी.वी. देखते वक्त कोई और सदस्य अपनी ही वार्तालाप में मग्न हो, तब भी उन्हें ज्यादा परेशानी नहीं होती।

इन सब गतिविध्यिों से यह ज्ञात होता है कि टी.वी. कैसे आरामदायक स्थिति में देखा जाता है। सिर्फ मानसिक ही नहीं, एक धारावाहिक देखने के दौरान शारीरिक लय भी एक समान नहीं रहती। टी.वी. देखते वक्त बच्चे अपने शरीर व मस्तिष्क पर ज्यादा दबाव नहीं डाल रहे थे।

समान्तर (Parallel) गतिविधियां

टी.वी. देखना एक एकल गतिविधि नहीं थी। टी.वी. देखने के साथ-साथ बच्चे दूसरे कार्य भी कर रहे थे। उन्होंने बताया कि वह टी.वी. देखने का समय घर के छोटे-छोटे काम खत्म करने में भी इस्तेमाल करते थे। जैसे कि माता-पिता की मदद करना, अपना बिस्तर तैयार करना, सब्जी काटना आदि। ज्यादातर बच्चों ने कहा कि वह यह समय अपने अगले दिन के विद्यालय की तैयारी करने के लिए उपयोग करते हैं। जैसे कि बैग लगाना, ड्रैस रखना व गृह कार्य करना। उन्होंने बताया कि वह कभी-कभी धारावाहिक देखते समय खाना भी खाते थे। अवलोकन के दौरान भी यह पाया गया कि भोजन खाना, सब्जियां काटना, दूध-चाय पीना, मां का खाना बनाना, चीजों का

लेन-देन, फोन पर बात करना, मोबाईल फोन पर खेलना, पानी लाना, दरवाजे की खटखट का जवाब देना आदि यह सभी क्रियाएं टी.वी. देखने के साथ-साथ हो रही थीं।

इससे यह बात निकल कर आती है कि कैसे टी.वी. ने बच्चों के घरों में अपनी एक जगह बना ली है। जैसे घर के अनेक काम साथ में किए जाते हैं, वैसे ही धारावाहिक देखते समय भी अन्य काम साथ में हो जाते हैं। एक सवाल यह भी उठता है कि क्या बच्चों का मस्तिष्क सिर्फ टी.वी. पर दिखाई दे रहे दृश्य पर केंद्रित रहता है या वह एक साथ हो रही अनेक गतिविधियों के बीच समन्वय भी बनाए रखता है।

> *"टी.वी. देखना एक ऐसी प्रक्रिया भी साबित हुई जहां लिंग व्यवहार के अनुसार भूमिकाएं निभाई गईं। अगर टी.वी. पर धारावाहिक का दृश्य चल रहा है और कुछ कार्य आ गया, तो उस कार्य को करने कौन उठेगा? ज्यादातर बेटियां। माता उन्हें निर्देश देती थी कि रसोई से पानी या खाना खाने के लिए ले आए, जबकि बेटा वहीं पर बैठा टी.वी. देखता रहता था।"*

टी.वी. देखनाः एक पारिवारिक गतिविधि

टी.वी. देखना एक पारिवारिक गतिविधि थी। सभी परिवार वाले साथ में मिलकर धारावाहिक देखते थे। बच्चों के मुताबिक माता-पिता कभी साथ होते थे, कभी नहीं, लेकिन उनके भाई-बहन हमेशा उनके साथ बैठकर टी.वी. देखते थे। किसी भी बच्चे ने एक पूरा धारावहिक बिना किसी से बातचीत किए नहीं देखा। परिवार के बीच में धारावाहिक व अन्य मुद्दों को लेकर छोटे-मोटे संवाद होते रहते थे। जैसे कि, ''इतनी स्ट्रांग बॉडी किसी की होती है क्या?'' और भाई का यह संवाद- ''यह सच क्यों नहीं बोलती?''

और बहन का यह संवाद- ''नहीं बताएगी।''

सब मिलकर कुछ दृश्यों पर हंसते थे तो कुछ पर अफसोस जाहिर करते थे। एक दृश्य में जब सास अपनी बहू पर चिल्ला रही थी तो सभी ने मिलकर हंसी उड़ाई। या जब 'बुरे' किरदार का मजाक बन रहा था तब सब हंसे और बोले, ''बेइज्जती कर दी''। धारावाहिक देखने के दौरान खाना भी खाया जाता था। जैसे कि एक बार पिता ने एक नई सब्जी पकाई थी, और सबसे पूछा, ''क्यों! सही है न। बताओ क्या-क्या डाला है?'' बच्चे माता-पिता से ज्यादा अपने भाई-बहन से वार्तालाप कर रहे थे। जैसे कि मोबाईल के अंदर क्या है, चिप्स के पैकिट पर अनबन या विज्ञापन के दौरान कौन सा कार्यक्रम देखें। टी.वी. देखना एक ऐसी गतिविधि नहीं थी जिसकी चर्चा बच्चे अपने दोस्तों और सहपाठियों के साथ करते थे। बच्चों को यह मालूम भी नहीं था कि उनके कौन-कौन से दोस्त वही धारावाहिक देखते हैं जो वो खुद देख रहे थे। उन्होंने यह भी स्वीकारा कि वह धारावाहिक के बारे में दोस्तों के साथ जिक्र नहीं करते थे। अतः टी.वी. देखना एक ऐसा मौका था जहां परिवार, खासकर भाई-बहन साथ मिलकर प्रक्रिया का हिस्सा बनते थे, अपने अनुभव साझा करते थे। धारावाहिक की कहानी के अर्थ का निर्माण मिल-जुल कर हो रहा था। एक तरफ धारावाहिक की कहानी पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में आगे बढ़ती थी तो दूसरी तरफ बच्चे इस कहानी को खुद के परिवार के साथ समझते थे।

टी.वी. देखने के दौरान सामाजिक अंतःक्रिया

टी.वी. देखने के दौरान प्रभुत्व (authority) भी जताया जाता था। रिमोट कौन संभालेगा? चैनल कौन बदलेगा? कौन तय करेगा की कब कौन-सा कार्यक्रम चलेगा? सभी घरों में उम्र में सबसे बड़ा व्यक्ति या कोई पुरुष ही रिमोट संभालता था। पूरे धारावाहिक के दौरान वह रिमोट को या तो अपने हाथ में रखते थे या फिर विज्ञापन के दौरान हाथ में लिया करते थे। लेकिन उनकी उपस्थिति में उनके अलावा रिमोट का उपयोग कोई और नहीं करता था। अगर पिता मौजूद हैं तो रिमोट पिता के हाथ में था, बड़ी बहन है तो उसके हाथ में था, अगर मां, बहन और बढ़ा भाई तीनों साथ हैं तो भाई के हाथ में था। विज्ञापन के दौरान पिता टी.वी. पर समाचार लगा लेते थे या भाई/बहन अपने पसंदीदा कार्यक्रम लगा लेते था। एक बार एक दृश्य के दौरान बच्चा कहानी को साथ में बोलता जा रहा था, तो उसकी मां ने उसको थप्पड़ मारा और चुप रहने के लिए धमकाया। टी.वी. देखना एक ऐसी प्रक्रिया भी साबित हुई

जहां लिंग व्यवहार के अनुसार भूमिकाएं निभाई गईं। अगर टी.वी. पर धारावाहिक का दृश्य चल रहा है और कुछ कार्य आ गया, तो उस कार्य को करने कौन उठेगा? ज्यादातर बेटियां। माता उन्हें निर्देश देती थी कि रसोई से पानी या खाना खाने के लिए ले आए, जबकि बेटा वहीं पर बैठा टी.वी. देखता रहता था। एक घर में नानी और मां दोनों ही बेटे को खूब लाड़ दे रही थीं ताकि वो खाना खाले, जबकि वह टी.वी. पर ध्यान केंद्रित कर रहा था।

सभी बच्चों के परिवार में शोधकर्ता की मेहमान नवाजी की भी कोशिश की गई थी। धारावाहिक चल रहा था पर इसी बीच में कभी माता तो कभी बच्चे ने कुछ खाने के लिए दिया। शोधकर्ता से बातचीत भी की, प्रश्न भी पूछे।

इन सभी बातों से यह पता चलता है कि टी.वी. देखते वक्त भी बच्चे अपनी सामाजिक भूमिकाओं में बंधे हुए होते हैं। वह प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं, लिंग व्यवहार करते हैं यहां तक कि एक मेजबान की भूमिका भी निभाते हैं। यह सभी भूमिकाएं वैसे ही निभाई जा रही थीं जैसे कि पारंपरिक तौर पर मौजूद हैं। एक और गहरी बात जो निकल कर आती है वह यह कि धारावाहिक की बुनियाद भी यही पारंपरिक सामाजिक भूमिकाएं होती हैं। ऐसे में धारावाहिक टी.वी. में आ रही एक असत्य वास्तविकता नहीं रह जाता, बल्कि घर परिवार के यथार्थ के साथ सतत रूप में शामिल हो जाता है। (Not discrete part of reality but becomes continuous with child's reality).

निष्कर्ष

टी.वी. पर धारावाहिक देखना एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सामाजिक, शारीरिक व मानसिक अंतःक्रियाएं होती हैं। सामाजिक स्तर पर देखें, तो टी.वी. देखना एक ऐसी क्रिया साबित हुई जहां परिवार साथ में बैठता है और अनुभवों को साझा करता है। बातचीत, खाना, घर के काम, प्रभुत्व यह सभी इस प्रक्रिया के दौरान परिवार में साझा हुए। यह सभी अनुभव पारिवारिक तथा लिंग व्यवहार की भूमिकाओं के अंतर्गत बुने गए। एक मां टी.वी. देखते वक्त भी मां थी और एक बच्चा बेटी या बेटा था। शारीरिक स्तर पर टी.वी. और बच्चों की आंख व कान के बीच अंतःक्रिया हुई। कमरे में मौजूद सभी नजारों और ध्वनियों के बीच आंख ने टी.वी. की स्क्रीन तथा कान ने उसकी आवाज पर ध्यान केंद्रित किया। बच्चों ने धारावाहिक की कहानी को कभी एक लय में नहीं, बल्कि तोड़-तोड़ कर देखा। इस कारण उनके मस्तिष्क ने कहानी के कुछ हिस्से चुने जिस पर उन्होंने सबसे ज्यादा ध्यान दिया। यह सभी वो हिस्से थे जिनमें हीरो-हीरोईन किसी विवाद से जूझ रहे थे। विज्ञापनों पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। बच्चों ने अनेक गतिविधियों जैसे भोजन करना और बिस्तर बिछाना और टी.वी. देखने की प्रक्रिया में समन्वय भी बिठाया।

टी.वी. ने बच्चों के घरों में एक स्थाई जगह बना ली थी। टी.वी. देखने के लिए बच्चे कोई विशिष्ट तैयारी नहीं करते थे। टी.वी. देखना एक ऐसी प्रक्रिया बन गई थी जिसमें बच्चे दूसरी कई क्रियाएं भी साथ में कर लेते थे। टी.वी. जिस पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा था उसके तहत धारावाहिक की कहानी एक असतत् वास्तविकता नहीं बल्कि बच्चों के यथार्थ का सतत हिस्सा बन गई थी। ◆

लेखिका परिचयः दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.एड. करने के बाद रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंट्री एजुकेशन, दिल्ली विश्वविद्यालय में सेंटर इंचार्ज के पद पर कार्यरत हैं और साथ में उच्च शिक्षा के लिए तैयारी कर रही हैं।

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XIX

आपका शुक्रिया

फ़राह फ़ारूक़ी

डायरी के पन्ने तो अभी बाक़ी हैं, लेकिन इस शृंखला को यहीं ख़त्म कर रही हूं। ख़त्म करते हुए एक अजीब से अधूरेपन का एहसास है। जैसे, जो पन्ने या लेख लिखे गए, उनमें कहीं कुछ छूट-सा गया हो या फिर एक फ़ोटो को दिखाने के दौरान वो फ़ोटो ही कुछ बदल-सा गया हो। कहानी की शुरुआत और अंत के बहुत से छोर हो सकते हैं। हम कहां से कहां तक की कहानी बयान कर रहे हैं इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जैसे पिछले लेख में मैंने कोर्ट केस के बारे में लिखा है। अगर वही लेख आज से चार साल बाद लिखा जाएगा तो तस्वीर बदल सकती है। ख़ुदानख़ास्ता बिरादरी को नई बिल्डिंग तामीर कराने में अड़चने डालना मंहगा भी साबित हो सकता है। यानि आने वाले कल के वाक़िये-क़िस्से आज लिखी गई कहानी को नया रंग दे सकते हैं। एक माईनें में मेरे लेख आज का इतिहास दर्शाते हैं। कल की करवटें और मोड़ हमें मजबूर कर सकते हैं कि हम इन्हें नई रोशनी में देखें। तब मेरा नज़रिया भी बदल सकता है।

मैंने डायरी अपने नज़रिये से ज़रूर लिखी है लेकिन इसमें बहुत सी आवाज़े समेटने की कोशिश की हैं। क्योंकि मुख़तलिफ़ लोगों और बच्चों की बातें उन्हीं की ज़बान में दी गई हैं, इसलिए यह गुंजाईश है कि मेरा आपका नज़रिया और विश्लेषण किसी वाक़िये के बारे में फ़र्क़ हो। हां, यह कोशिश ज़रूर रही है कि अपनी बात सुबूतों के बलबूते पर कह पाऊं।

जैसा कि आप जानते हैं कि इस डायरी की पहली क़िस्त मार्च-अप्रैल, 2012 के शिक्षा विमर्श में शाया हुई थी। चार साल के इस लम्बे सफ़र में आपके अलावा कई लोगों का साथ और मदद रही है। इन अज़ीज़ों का शुक्रिया अदा करने के साथ-साथ कुछ मुद्दे जो इस डायरी के लिखने से जुड़े रहे उनकी बात करना चाहती हूं। यह बात शुरू में ही कह देना चाहती हूं कि डायरी लिखना स्कूली माहौल, बच्चों और बड़ों को समझने में बहुत मददगार रहा है और यह रिश्तों के बदलने व स्कूल के संभलने का ज़रिया बना। चाहे स्कूल में बदलाव की चाल भले ही सुस्त हो डायरी लिखना तबदीली का एहसास देता रहा है, जिससे हिम्मत बंधी रही। क्योंकि स्कूल में काम की बारीकियों को मैं देख रही थी और दर्ज भी कर रही थी, इसलिए स्कूली फ़ैसलों के असर को क़रीब से देख पाई और आगे के लिए कुछ सही क़दम उठा पाई। जैसा कि आपने पढ़ा ही है कि स्कूल में जेण्डर कमेटी तो बन गई लेकिन कमेटी के मैम्बर खुद लड़कियों के साथ नाइन्साफ़ी कर रहे हैं। इस प्रक्रिया को कुरेदने, समझने, लिखने पर बात की नौईयत समझ में आई और नए फ़ैसले लेने में मदद मिली। कोशिश करके अध्यापकों और बच्चों के लिए जेण्डर पर कार्यशालाएं आयोजित करवाई थीं।

वैसे तो साथी और बच्चे सभी साथ थे फिर भी एक मैनेजर की ज़िम्मेदारियां और औहदा अकेलेपन का एहसास भी अकसर करवाता है। ऐसे में अपने काम और तबदीली का अक्स देखकर कभी ख़ुशी हुई, कभी

"अब जब मैं अपने काम और पाल विलिस के काम की तुलना करती हूं तो जहां एक तरफ़ उनके काम की इज़्ज़त दोबाला हो जाती है वहीं उनके रोमांचक काम में कई कमियां भी नज़र आती हैं।"

उसकी क़मजोर चाल पर अफ़सोस, कभी अपनी कमियों-ख़ामियों का एहसास रहा, बहरहाल, अपना साया साथ था। यह डायरी भले ही स्कूल की बेहतरी और मेरी कामयाबी का जश्न मनाती हुई न महसूस हुई हो लेकिन बच्चों की हिम्मत, शोख़ी और हंगामों ने मायूसी से दूर रखा और आंधी में शमा को जलाए रखा।

डायरी लिखने की शुरुआत से पहले यह समझ में नहीं आ रहा था कि लेखों को क्या रूप दिया जाए। डायरी की तरह लिखने का मश्वरा प्रोफ़ेसर अनिल सेठी जी का था। उनका कहना था कि आपकी तफ़सील और शोध इतना बारीक है कि आप ''थ्योरी'' खुद बुन लेंगी आपको उधार मांगी बैसाखियों की ज़रूरत नहीं है। उनका कहना था कि मौजूदा लिटरेचर या काम में आपका काम तबदीली लाने का काम कर सकता है। आज जब मैं अपने काम को नई तरतीब देने की कोशिश में हूं तो उनके मश्वरे का फ़ायदा ज़्यादा महसूस कर पा रही हूं। मैंने अपने पांचवे-छठे लेख में बच्चों के समूहों की बात की है। अब जब मैं अपने काम और पाल विलिस के काम की तुलना करती हूं तो जहां एक तरफ़ उनके काम की इज़्ज़त दोबाला हो जाती है वहीं उनके रोमांचक काम में कई कमियां भी नज़र आती हैं। वह मज़दूर परिवारों के बच्चों के पिछड़ने और उनके स्कूली दस्तूरों-रिवाजों और पाठ्यक्रम के नकारने में ताल्लुक़ देखते-दिखाते हैं। जबकि मेरे काम में बच्चों के पिछड़ने और उनकी पहली सी सामाजिक-आर्थिक स्थिति स्थापित होने में बहुत-सी और पेचीदगियां शामिल हैं। विलिस के बच्चों की तरह हमारे बच्चे अपने पैरों पर जान बूझकर कुल्हाड़ी नहीं मारते। अगर उन्हें इज़्ज़त के एहसास के साथ, ठीक तरह उनकी ज़िन्दगी से ताल्लुक़ समझाकर पढ़ाया जाए तो वे पढ़ने के लिए तैयार हैं। मैं कहना चाहती हूं कि अपने काम के आईने से थ्योरी या औरों के काम को देखना कहीं ज़्यादा फ़ायदेमंद रहा, जिसके लिए मैं अनिल के दिए मश्वरे की क़दर करती हूं। जब शिक्षा विमर्श की पन्द्रहवीं वर्षगांठ पर दिगन्तर जाना हुआ तो डॉ. शारदा जैन ने मेरे काम को काफ़ी सराहा। मेरे यह कहने पर कि मैं फ़िलहाल थ्योरी से जोड़कर नहीं लिख पा रही हूं उनका कहना था कि इस काम की यही ख़ासियत है यानि मैं किसी और काम में न बहकर अपने ही काम को लोगों तक पहुंचा पा रही हूं। वैसे तो तफ़सील इतनी घनी इकट्ठा हो चुकी है कि हर थीम पर चंद से लेकर दस लेख तक लिखे जा सकते हैं। लेकिन पूरे स्कूल के अलग-अलग पहलुओं की झलकियां देने के अपने फ़ायदें हैं। इससे कुछ हद तक स्कूल की एक मुकम्मल-सी तस्वीर उभरती है। जब शिक्षा विमर्श के लिए लिखना शुरू किया था तब इतना एहसास नहीं था कि हिन्दुस्तानी जबानों में लिखना कितना ज़रूरी है। जयपुर, भोपाल, उत्तर प्रदेश वगैरा में काफ़ी लोगों से मुलाकात हुई जिन्होंने मेरे लेखों को पढ़ा और सराहा था। जब भोपाल जाना हुआ तो अज़ीम प्रेमजी फ़ाउन्डेशन के दफ़्तर में मेरा शिद्दत से इन्तज़ार हो रहा था और लोगों ने बेहद खुशी व मौहब्बत से मेरा इस्तक़बाल किया। साथ ही यह बताया कि मेरे लेख शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के बहुत से पर्चो में शामिल किए गए हैं। खुशी इस बात की ज़्यादा हुई कि ये ज़मीनी मुद्दों और लोगों के साथ काम करने वाले टीचर और कार्यकर्ता थे। मेरी डायरी ऐसे ही तमाम लोगों को अर्पित है।

मेरे ये लेख अनिल के साथ लम्बी बातचीत, बहस, तकरार का नतीजा हैं। उन्होंने हर एक लेख को छपने से पहले पढ़ा है। उस पर हमारी लंबी बातचीत रही है। इनमें से कई लेख ऐसे हैं जो उनके पैने सवालों और तंक़ीदी नज़र की वजह से बिलकुल बदल गए या नए सिरे से लिखे गए। बहुत सों की एक बेहतर शक्ल आपके समाने आई। मैं अपनी ज़बान में अपनी बात कह सकूं इसकी हिम्मत अनिल से ही मुझे मिली है। वे आज भी गंगा-जमनी तहज़ीब के नशे में चूर हैं और मेरी हिन्दुस्तानी तहज़ीब व ज़बान में फ़ारसी और हिन्दी के मिलन को सराहते रहे हैं। इस चार साल के सफ़र में मैंने दोस्त की शक्ल में उन जैसा उस्ताद पाया जिसके लिए उनका सिर्फ़ शुक्रिया कह देना नाकाफ़ी है।

मैं विश्वंभर जी का तहे दिल से शुक्रिया अदा करना चाहती हूं। क्या कहूं बस उन्हीं का दम था कि ये उन्नीस लेख मुझसे लिखवा पाए। कभी तो शिकायत की, 'सब लेख आ चुके हैं, बस आपके लेख का इंतज़ार है, कभी शर्मिंदा किया और कभी सराहा भी। इब्तदा से ही मेरा इसरार रहा कि मैं अपनी ज़बान में ही लिखूंगी और तमाम नुक्ते भी

लगाना चाहूंगी। विश्वंभर जी ने कहने की कोशिश तो की, कि शिक्षा विमर्श में वे चंद ही नुक्तों का इस्तेमाल करते हैं। फिर भी उन्होंने मेरी बात पर ग़ौर किया और भाषा के क्षेत्र में काम करने वाले कुछ लोगों से बात करने के बाद मुझे इज़ाज़त दी कि मैं अपनी बात अपनी ज़बान में रख सकूं। इस सफ़र में एक संपादक के तौर पर उनकी पैनी नज़र ने बेहतर लिख पाने पर उकसाया। मैं उनका और उनकी टीम का, ख़ास तौर से ख्यालीराम जी का शुक्रिया अदा करना चाहती हूं।

"मैंने डायरी अपने नज़रिये से ज़रूर लिखी है लेकिन इसमें बहुत सी आवाज़े समेटने की कोशिश की हैं। क्योंकि मुख़तलिफ़ लोगों और बच्चों की बातें उन्हीं की ज़बान में दी गई हैं, इसलिए यह गुंजाईश है कि मेरा आपका नज़रिया और विश्लेषण किसी वाक़िये के बारे में फ़र्क़ हो।"

डॉक्टर सी. एन. सुब्रमह्यण्यम मेरे लेखों के पाठक रहे हैं और साथ ही कई मुफ़ीद राय-मश्वरे दिए हैं, जिसके लिए मैं उनकी बहुत शुक्रगुज़ार हूं। इनके अलावा कई दोस्त लगातार अपनी तारीफ़ से हिम्मत अफ़ज़ाई करते रहे हैं। इनमें शामिल हैं- मनीष जैन, गुर्जीत कौर, प्रेमपाल शर्मा, अनवर जाफ़री, योगेन्द्र दत्त वग़ैरा। मुझ नाचीज़ के इल्म को इल्म क़रार देकर जो मेरी इज़्ज़त अफ़ज़ाई की उसके लिए मैं इन लोगों की शुक्रगुज़ार रहूंगी। इस कारोबारी दुनिया में जहां इल्म की क़ीमत रुतबे, ज़बान, शऊर और न जाने किन-किन चीज़ों से जुड़ी हैं वहां मेरी डायरी के इन सराहने वालों की मैं बहुत शुक्रगुज़ार हूं।

मेरी अज़ीज़ दोस्त अज़रा रज़्ज़ाक ने मुझे स्कूल के साथ काम करने का मौक़ा फ़राहम करवाया, जिसके लिए मैं उनका शुक्रिया अदा करना चाहती हूं। मैंने इस दौरान उनके बेलौस जज़्बे से बहुत कुछ सीखा है।

मैंनेजर होने के साथ-साथ स्कूल में लगातार अवलोकन करने, विभिन्न लोगों से बातचीत करने और अपने लेखों में रिश्तों और बदलाव को उजागर करने की कोशिश कर रही थी। ये तो आपको मेरे लेखों से बखूबी अंदाज़ा हो गया होगा कि मैंने अपने रोल की अपने हिसाब से तर्जुमानी की थी। इसमें शामिल रहा था- बच्चों को कुछ दिन पढ़ाना, उनके घर मौहल्लों का दौरा, स्कूल के ऐनवल-डे (सालाना जलसे) में ड्रामें की प्रैक्टिस करवाना, सूचना के अधिकार के तहत आए ख़तों का जवाब देना, बच्चों की मैंटर का रोल, टीचर हज़रात से औपचारिक-अनौपचारिक बातचीत, वालदैन और बिरादरी के लोगों से मिलना-मिलाना और इसी तरह के अनेकों काम। मैंने अपने रुतबे और हैसियत (जो समझी-भांपी जाती थी) के चश्मे से रिश्तों को समझने की कोशिश की और उसकी झलक लेखों में भी दिखाई। मेरी यह कोशिश ज़रूर रही कि हमारे बीच बराबरी का एहसास रहे लेकिन यह दावा बिलकुल नहीं कर सकती कि ऐसा मुमकिन भी हो पाया। कई बार चीज़ों को, हालात को और बच्चों-बड़ों की राय को समझने के लिए यह ज़रूरी हो जाता था कि मैं उनसे साक्षात्कार करूं और बहुत से सवालों के ज़रिये उनके ख़यालात जान पाऊं। लेकिन मेरा औहदा और रिश्ते मुझे इसकी इजाज़त नहीं देते थे।

इस सिलसिले में कुछ साथियों और दोस्तों का स्कूल में आना काफ़ी मददगार रहा। लैस्ले यूनिवर्सटी, अमरीका की मीनाक्षी छाबड़ा ने पिछले तीन साल में कई महीने स्कूल में बच्चों और अध्यापकों के साथ काम किया। उन्हीं के साथ मैंने भी कई मुद्दों और चीज़ों पर बच्चों-बड़ों से बातचीत की। उनसे बहुत कुछ नया सीखने को भी मिला। मीनाक्षी और अनिल के जुड़ने से हम स्कूल में इतिहास क्लब की शुरुआत कर पाए जिसके बारे में मैंने अपने एक लेख में लिखा भी है। इन जैसे मेहमानों के आने से स्कूल की आबो हवा में फ़र्क़ पड़ा, नई सोच और ख़यालात का आदान प्रदान हुआ। साथ ही हमें यानि स्कूल के ज़िम्मेदार लोगों को अपनी ज़िम्मेदारियों का एहसास रहा। मीनाक्षी के अलावा, इस दौरान कुछ विद्यार्थियों ने मेरे साथ इन्टर्नशिप की। इनके सिलसिलेवार काम के ज़रिये भी मैं स्कूल को बेहतर तौर पर जान पाई। इनमें शामिल हैं टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़ के मुरारी झा और अजीम प्रेमजी यूनिवर्सटी के आयूशी भट्ट, अंशिखा और मोहम्मद जलालुद्दीन। जामिया मिल्लिया की कविता और मनीषा इक्का ने भी मेरे लिए तफ़सील जमा की जिसके लिए मैं इन सभी का शुक्रिया अदा करना चाहती हूं।

स्कूल के साथ इस सफ़र ने मुझे मेहनत करके चीज़ें-हालात बदल डालने की सुलगती ख़्वाहिश के साथ औरों के नज़रियों के लिए ठहरना, उन्हें जगह देना और सब्र के साथ काम करने की अच्छी तालीम दी। यह समझने का मौक़ा भी दिया कि हम सब अपने समाजीकरण, हालात और मौक़ों का नतीजा हैं। पता नहीं साधना क्या होती है- लेकिन स्कूल को समझना, इस तरह लिखने की कोशिश करना कि ''औरों'' पर उठने से पहले उंगली ख़ुद पर उठ पाए ताकि कहीं कुछ बेहतरी का ज़रिया बन पाऊं मेरी अपनी सी बंदगी थी। मुझे लगता है कि जहां नए सवालों ने मेरे लिए ज़िन्दगी और उलझा दी वहीं ख़ुद अपनी नज़र में मैं कुछ माइनों में एक बेहतर इंसान बन पाई। इसका सबक़ मैंने स्कूल के बच्चों, उस्ताद, स्टाफ़, प्रिंसिपल साहब और वाईस प्रिंसिपल से सीखा है। स्कूल और अपनी ज़िन्दगी में जगह देने के लिए मैं हमेशा उन सबकी एहसानमंद रहूंगी। इस दौड़ या रेस के ज़माने में स्कूल ने मुझे आगे दौड़ के अकेला हो जाने की बजाय क़दम मिलाने की कोशिश करनी सिखाई है।

सच मानिए अगर प्रोफ़ेसर बन पाने की कोई ख़ुशी हुई है तो बस इतनी है कि मेरी अम्मी को लगता है कि उनकी मेहनत रंग लाई। वरना तो यह लेबल-तमग़े बोझ ही हैं। लेकिन मेरी अम्मी जो ख़ुद कॉलेज में पढ़ा चुकी हैं ओहदों से परे हटकर काम की अहमियत और नौइयत को देख पाती हैं। उन्होंने इनमें से कई लेख सुने हैं और तारीफ़ की है। मेरी बिटिया ऐनी की बारीक नज़र ने जो कई बार मुझे ही हैरान कर देती है, इन लेखों में बारीकियां देखीं हैं। ऐनी जो मेरी सबसे प्यारी दोस्त भी है इस श्रृंखला की सबसे बड़ी प्रशसंक रही है और मुझे हिम्मत देती रही है। लिखने के दौरान जो अहम चीज़ गुज़री, वह थी कि मेरे बेटे हमज़ा ने विज्ञान से (और अपने वालिद से) बग़ावत कर दी। स्कूल में विज्ञान के तालिब ये आजकल लिबरल आर्ट्स के मज़े लूट रहे हैं और ख़ुश हैं। अब कहीं तो मेरी डायरी बड़े बदलाव ला पाई। स्कूल में नहीं तो मेरे घर में ही सही। टाईप करते समय, तमाम पन्ने जो आपने पढ़े इनमें सही नुक्ते लगाने का श्रेय दीपचन्द जी को जाता है। अब तो तलफ़्फ़ुज़ सुनकर ही सही जगह नुक्ता लगा लेते हैं।

अब आप सबसे रिश्ता बना है तो मुलाक़ात भी रहेगी। बाक़ी पन्ने भी कभी न कभी लिखूंगी। कोशिश है कि अपने स्कूल से अब नए रोल में जुडूं। आजकल मैनेजर तो नहीं हूं लेकिन इसकी मैनेजिंग कमेटी में हूं इस साल जुलाई से चाहती हूं कि किसी एक कक्षा में लगातार पढ़ा पाऊं। हो सकता है नई डायरी की शुरुआत हो।

शुक्रिया! आदाब! ◆

लेखिका परिचयः दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं।

शिक्षा को लेकर कुछ विचार

रिचा चौहान, जया मिश्रा एवं क्रिस्टोफर खाल्खो

"हमारी शिक्षा में उस हाथ के काम की क्या हैसियत है जिसे गांधी ने अपनी शिक्षा की परिकल्पना की धुरी बनाया था? प्रश्नोत्तरी व परीक्षा किस प्रकार ज्ञान सृजन में बाधा बनती हैं और कैसे वह ज्ञान सृजन में छात्रों की भागीदारी को नकार देती है। शिक्षा में संवाद के मायने क्या हैं? संवाद करने की मूलभूत शर्तें दार्शनिक बूबर क्या मानते हैं? ऐसे सवालों पर विचार करती ये टिप्पणियां इनके लेखकों के शिक्षक बनने के दौरान के अनुभवों से उपजी है और बहुत सारगर्भित है।"

हाथ के काम की शिक्षा में जगह[1]

गांधी जी का कला-केन्द्रित शिक्षा सिद्धांत हाथ के काम को सारी शिक्षा का आधार मानता है। काम के प्रयोग से गांधीजी ने समाज में बसे जातिवाद एवं वर्गीकरण को दूर करना चाहा तथा हर व्यक्ति को आर्थिक रूप से एवं ज्ञान-निर्माण के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाना चाहा। परन्तु क्या वे अपने उद्देश्य में सफल रहे? आइए, कुछ उदाहरणों द्वारा देखें कि हाथ के काम की आज की शिक्षा प्रणाली में क्या जगह है।

मेरी शिक्षा पश्चिमी दिल्ली के एक रूढ़िवादी मिशनरी विद्यालय में हुई है, जहां काम को पाठ्यक्रम का बहुत छोटा हिस्सा माना जाता था। काम का महत्व केवल 'वर्क एक्सपीरियंस' एवं 'होम साइंस' के विषयों तक सीमित था। इन विषयों का कुछ दबाव तो था, परन्तु वह सारा दबाव हमारी मौजूदा शिक्षा प्रणाली में न के बराबर हो जाता था। 'वर्क एक्सपीरियंस' में सभी छात्रों को हफ्ते में एक बार झाड़ू लगाने, कक्षा साफ करने एवं पुस्तकालय में किताबें सरियाने का मौका दिया जाता था। यह काम हर हफ्ते बदलते थे, ताकि हर हफ्ते हर विद्यार्थी को कोई दूसरा काम मिल सके। इन कामों के लिए हमें कोई अंक नहीं दिए जाते थे। केवल हमारी उपस्थिति देखी जाती थी, जिसे दो छात्र हर हफ्ते बारी-बारी लिया करते थे। एक दिन इसी प्रकार जब मैं बाहर झाड़ू लगाने के काम में मग्न था, उपस्थिति लगाने वाला एक छात्र मुझसे आकर बोला- 'वाह! इतनी मेहनत के लिए तो तुम्हें दो उपस्थिति मिलनी चाहिए।' मेरे हिसाब से इस ताने में यही कहना छुपा था कि जब हमें कोई अंक नहीं मिलने वाले, तो इतनी मेहनत करके क्या फायदा? इसका मतलब लाभ से भिन्न काम का अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं था; काम सिर्फ लाभ के लिए करना चाहिए।

इसी प्रकार एक दिन एक छात्रा ने गंदे बरतन साफ करने से इंकार कर दिया। लड़की उच्च-मध्यम वर्गीय परिवार की थी; कहती थी अपने जीवन में कभी बरतन साफ नहीं किए, न आज शुरू करने वाली है। यह उदाहरण साफ दर्शातें हैं कि किस प्रकार काम सिर्फ प्रतीकवाद के उदाहरण बन कर रह गए हैं। उनकी अपने-आपमें कोई गरिमा नहीं। अंकों एवं टीचर की प्रशंसा के अतिरिक्त काम का कोई महत्व नहीं। इन दोनों लाभों के अलावा काम की दुर्गति का एक कारण उसे 'को-करिकुलम' का नाम दिया जाना भी हो सकता है। 'को-करिकुलम' कहते ही हम काम को मुख्य धारा विषयों से अलग कर उसके महत्व को खत्म कर देते हैं; यह विच्छेद काम को बहुत भारी पड़ता है।

जबकि गांधीजी ने इन सिद्धांतों के द्वारा कक्षा में बसे जातिवाद, वर्गभेद, क्षेत्रवाद एवं धर्म-आधारित भेदभाव को खत्म करना चाहा था। परन्तु यह तब तक नहीं हो सकता जब तक आमूलचूल बदलाव नहीं आता। यानी शिक्षा प्रणाली में सुधार मात्र से काम नहीं चलेगा, बल्कि हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था में बदलाव की जरूरत होगी। जब तक यह नहीं होता, हमारे छात्र कक्षा में अनुभव के लिए नहीं वरन ढोंगी लाभों के लिए काम करते रहेंगे तथा जातिवाद एवं स्वेच्छाचारी वर्गभेद का प्रतिपादन करते रहेंगे।

परीक्षा आधारित शिक्षा पद्धति बनाम ज्ञान सृजन[2]

आजकल स्कूलों तथा शैक्षणिक संस्थानों में प्रश्नोत्तरी का बड़ा प्रचलन देखने को मिलता है। प्रश्नोत्तरी की संस्कृति ने खुद को यूं स्थापित कर लिया है कि ज्यादातर शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान का आकलन इसी प्रणाली के आधार पर करते हैं। मैंने स्वयं अपने स्कूली अनुभवों में देखा है कि कैसे शिक्षक नियमित रूप से कक्षाओं में प्रश्नोत्तरी के माध्यम से इम्तिहान लेते हैं। यह शैली न केवल विद्यार्थियों को तथ्यों को रटने व याद करने को विवश कर देती है बल्कि विषयों से परे जाकर अपने अनुभवों को शामिल करने से भी रोकती है।

ज्ञान का सही अनुगमन हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान क्या है इसकी उचित समझ हो। क्या किताबों में दिए या शिक्षक के बताए शब्द ज्ञान है? दरअसल ये जानकारी मात्र हैं। ज्ञान का निर्माण तब होता है जब किताबों में दिए विचारों का विश्लेषण अपने अनुभवों द्वारा किया जाए। जब हमारे अनुभव ही इतने विविध हैं तो ज्ञान में एकरूपता कैसे हो सकती है? ज्ञान मूलतः 'अर्थ-निर्माण' करने की एक प्रक्रिया है जिसके जरिए विद्यार्थी स्वयं बड़ी ही सक्रियता से अपनी गतिविधियों के आधार पर अपनी समझ बनाते हैं। शिक्षा के प्रक्रम की पहली पदध्वनि है कि ज्ञान सृजनात्मक है तथा हम हर एक क्षण अपने भीतरी तथा बाहरी परिवेश के साथ एक तरह की मुठभेड़ में होते हैं। अगर इस सूत्र की गांठ बांध ली जाए तो मुझे लगता है कि विद्यार्थियों के ज्ञान प्राप्ति का आंकलन प्रश्नोत्तरी, परीक्षाओं तथा ऐसी प्रतियोगिताओं से नहीं किया जा सकता जो ज्ञान को पूर्वनिर्धारित सख्त वर्गों में बांटती हो। अगर हम ज्ञान की प्रकृति को मूलतः 'निर्मित' समझते हैं तो हम ऐसी पद्धतियों जो अंकों का आवंटन उत्तरों की सटीकता व समानता के आधार पर करती हैं उन्हें न केवल व्यर्थ कहेंगे बल्कि विद्यार्थी के मानसिक तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए खतरनाक भी समझेंगे। विद्यार्थी स्वयं अपने ज्ञान की संरचना करे इसके लिए शिक्षा प्रणाली में उनकी गलतियों तथा अपने अनुभवों द्वारा ठोस चीजों को बदलने की इच्छा की जगह होनी जरूरी है- ऐसा एन.सी.एफ 2005 में कहा गया है।

प्रश्नोत्तरी के जरिये एक समान जवाबों तक पहुंचने की उम्मीद में शिक्षक या शैक्षणिक संस्थानों द्वारा विद्यार्थी को एक ऐसी मशीन में तबदील कर दिया जाता है जिसका मूल उद्देश्य पाठ्यपुस्तकों में उद्धृत व शिक्षक द्वारा बोले गए कथनों को परीक्षा में दोहराना भर रह जाता है। जॉन होल्ट इस विषय में कहते हैं कि ऐसी पद्धतियां न सिर्फ विद्यार्थियों के व्यक्तिगत व व्यक्तिपरक अनुभवों को दबाकर उन्हें भेड़रूपी शिक्षक के पीछे 'भेड़चाल' चलने पर मजबूर कर देती हैं बल्कि उनकी उत्सुकता व विविध आवाजों और समझ की भी बलि चढ़ा शिक्षा को एक निश्चल नीरस प्रक्रिया बना देती है।

निःसंदेह ही ऐसे शिक्षक जो इन पद्धतियों का सहारा लेते हैं, वे ज्ञान व शिक्षा अर्जन की एक विकृत परिभाषा में विश्वास रखते हैं। ऐसी शिक्षा व्यवस्था न सिर्फ निर्माणवाद के दृष्टिकोण से पुरानी हो चुकी है बल्कि ये विद्यार्थियों

के सामने एक ऐसी भयावह रूपरेखा प्रस्तुत करती है जहां उनके योगदान को कोई मान्यता नहीं होती। ऐसे में शिक्षा सुदूरवर्ती अनुभव और विद्यार्थी इस कठोर प्रणाली का शिकार बनकर रह जाते हैं। प्लेटो ने शिक्षक को एक पथ-प्रदर्शक व आत्मा को दिशा दिखाने वाले ऐसे चरित्र के रूप में देखा था जो विद्यार्थी के मन को अंधकार से ज्ञान के उजाले की ओर मोड़ता है। आत्मा की सक्रियता के लिए आवश्यक है विद्यार्थी का स्वयं क्रियाशील रहना किन्तु कठोर शिक्षा प्रणाली इसमें बाधा बनती है। प्रतिस्पर्धा, डर व अंकों के पीछे की दौड़ को बढ़ावा देने के साथ ही ऐसी प्रणाली विद्यार्थियों में असमर्थता का ऐसा बोध जगाने लगती है जहां वे अपने वास्तविक जीवन्त अनुभवों को स्कूल की दुनिया के साथ जोड़कर नहीं देख पाते।

ज्ञान हासिल करने में मददगार के तौर पर शिक्षक एक बहुत अहम कड़ी है। यह शिक्षक पर निर्भर है कि उसके विद्यार्थियों का विकास किस प्रकार हो। एक समझदार अध्यापक हमेशा अपने विद्यार्थियों के अनुभवों एवं उनकी समझ को बढ़ावा देगा। शिक्षा के दायरे तभी बढ़ पाएंगे जब विद्यार्थियों द्वारा ज्ञान के सृजन को पहचाना व सराहा जाएगा।

शिक्षा में संवाद[3]

मार्टिन बूबर (1878-1965) दार्शनिक अंदाज में यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्य का जीवन उसके रचयिता व भौतिक संसार के साथ समागम के बगैर अर्थहीन है। इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए वे शिक्षक-विद्यार्थी के संबंध में आत्मीयता होने की बात कहते हैं; जिसके लिए उन्होंने दोनों के बीच परस्पर संवाद पर जोर डाला है।

पारंपरिक शिक्षा पद्धति विद्यार्थी को निष्क्रिय मानती है। ऐसे में एक शिक्षक का कार्य केवल सूचना व समझदारी को 'ऊपर से डालना' होता है। अतः शिक्षक को यहां 'कुप्पी' की संज्ञा दी गई है। इसके विपरीत 'नई' शिक्षा प्रणाली का मानना है कि विद्यार्थी पूर्ण रूप से सक्रिय होता है।

'पुरानी' शिक्षा जिसमें शिक्षक की तुलना कुप्पी से की गई है व अधिक रिआयती 'नई' शिक्षा जो विद्यार्थी को पूर्ण सक्रिय मानती है; बूबर इन दोनों दृष्टिकोणों की आलोचना करते हैं। वे 'समागम' के सिद्धांत की बात करते हैं जिसका अर्थ है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में परस्परता होना अनिवार्य है। कम से कम शिक्षक की ओर से यह अपेक्षित ही है और वो भी उसके स्व को बाधित किए बिना। दरअसल इन विचारों का आशय एक शिक्षक की भूमिका से है जिस पर मैं अब आगे चर्चा करूंगी।

बूबर शिक्षा में संवाद की दो बुनियादी शर्तें बताते हैं- स्वायत्त भागीदार और स्वेच्छा से इस संबंध में प्रवेश। पहली शर्त शिक्षक से ये मांग करती है कि वह शिक्षक-शिष्य संबंध में भरोसे व तर्कसंगतता की सराहना करे। क्योंकि वह शिक्षक ही है जो स्वयं व शिष्य दोनों की वास्तविकता को जानने में सक्षम है। एक शिक्षक की जिम्मेदारी है कि उस ज्ञान का मूल्य समझे जो उसने अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अर्जित किया है। बूबर विद्यार्थी की बिना शर्त स्वीकृति के खिलाफ आगाह करते हैं पर साथ ही साथ उसकी छुपी क्षमता को समझने व उसका समर्थन करने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

दूसरी शर्त- स्वेच्छा व मुक्त चयन का सिद्धांत। शिक्षक के मत-प्रचारक व सत्तावादी स्वभाव की आलोचना है और यही नहीं, उनके हिसाब से पाठ्यक्रम की संरचना में विद्यार्थी की राय का शामिल न होना इसी तानाशाही प्रक्रिया का हिस्सा है। ऐसे परिदृश्य में, शिक्षा में संवाद का संपूर्ण उद्देश्य ही पराजित हो जाता है। यहां फिर से शिक्षकों की जिम्मेदारी बनती है कि वे अपने विद्यार्थियों को समझने की कोशिश करें।

एक और निष्कर्ष जो बूबर के विचारों से निकलता है वह यह है कि शिक्षण प्रक्रिया में अध्यापक का 'होना'। वे एक अर्थपूर्ण संवाद के लिए अपेक्षिक वातावरण की बात करते हैं। शिक्षक का 'होना' अर्थात उसके आचरण विद्यार्थियों के लिए स्वयं एक उदाहरण प्रस्तुत करें। इस तरह कई बार शिक्षक-विद्यार्थी के बीच संवाद बिना किसी बातचीत के भी संभव है। इसके लिए जरूरी हो जाता है कि शिक्षक स्वयं एक मिसाल पेश करके विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करे।

यह बहुत महत्वपूर्ण है कि शिक्षक-विद्यार्थी का संबंध स्वतंत्र शख्सियतों के रूप में हो। कलमन यरोन ने अपने बूबर पर लिखे निबंध में अध्यापन की कला का वर्णन शैक्षिक सीमाओं के लचीलेपन के तौर पर व्यक्त किया है। वे तर्क देते हैं कि- 'कम से कम दूरी अनुशासन के लिए व अधिकतम आत्मीयता संवाद को बढ़ावा देने के लिए' सच्ची शिक्षा के संदर्भ में बहुत अहम है।

मेरे अनुसार बूबर के विचारों का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि उन्होंने एक शिक्षक को 'छन्नी' से परिभाषित किया है। अलग-अलग समरूप शब्दों जैसे- छलनी/छन्नी, 'चयन' करने वाला- के जरिए वे शिक्षक की भूमिका को स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार छलनी उपयोगी वस्तुओं को छांटकर अलग कर देती है वैसे ही शिक्षक का कार्य है कि वो शिष्यों की क्षमताओं को सही दिशा दे व उनमें से उचित को छांटकर उभारे। तब जाकर एक विद्यार्थी अपनी संपूर्ण क्षमता को पहचानेगा व उसका सही प्रयोग करेगा। ऐसे में संवाद शिक्षण की एक उपयुक्त पद्धति के रूप में सामने आता है। वह शिक्षक जो विद्यार्थी के साथ समन्वय स्थापित करता है, वह उसकी रचनात्मक ऊर्जा का संवर्धन करने में सफल होता है।

हम ये विचार समझने के लिए इसकी समानता अभिसारी लेंस (Converging lens) से भी कर सकते हैं। प्रकाश की किरणें इस लेंस से गुजर कर जिस तरह एक नियंत्रित दिशा की ओर केंद्रित होती हैं, उसी प्रकार शिक्षक संवाद के जरिए विद्यार्थी की सहज प्रवृत्ति को लाभकारी दिशा में प्रवाहित कर सकते हैं।

यह जानने में संवाद बहुत असरदार साबित होता है कि विद्यार्थी क्या सोचता है, उसकी क्षमता क्या है व वह किस सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आता है (क्योंकि ज्ञान सृजन में यह विशेष भूमिका अदा करते हैं) साथ ही वह उसे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का एक सक्रिय हिस्सा बनने में प्रभावी ढंग से मदद करता है।

बूबर के अनुसार 'नई' शिक्षा प्रणाली जो कि 'आजादी' के सिद्धांत पर आधारित है- वह भी अलोचना किए जाने लायक है। क्योंकि वे मानते हैं कि 'बाध्यता' का विपरीत 'समागम' होता है ना कि आजादी। इसका अर्थ है कि शिक्षक को 'केवल अपने लिए सोचने वाली आजादी' से विद्यार्थी को बचाना है। आजादी तो माध्यम मात्र है, लक्ष्य नहीं। यह बात फिर से बूबर द्वारा दी गई शिक्षा की इस परिभाषा की ओर इशारा करती है- 'मनुष्य द्वारा एक उपयुक्त संसार का चयन करना'। शिक्षा में संवाद हमें सिखाता है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का अस्तित्व दोनों भागीदारों की परस्परता पर निर्भर करता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि शिक्षक का कार्य अध्यापन में संवाद को स्थापित करना है। यह पद्धति शिक्षक व विद्यार्थी को समागम का अवसर देती है जिससे दोनों की रचनात्मक ऊर्जा को बल व दिशा मिलती है। ◆

लेखक परिचयः क्रिस्टोफर खाल्खो[1], जया मिश्र[2] एवं रिचा चौहान[3] दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा शुरू किए गए द्विवर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम के पहले बैच में अध्ययनरत छात्र हैं।

भूगोल लोगों के बारे में होता है

मनीष जैन

स्कूली जीवन में सूचना आधारित नीरस सामाजिक ज्ञान/विज्ञान ने हम में से बहुतों की जान ली है। यह विषय हमें समाज के बारे में पढ़ाने का दावा करता है पर सब कुछ हमारे अपने अनुभवों और जिंदगियों से बेहद दूर और अमूर्त लगता रहा है। इस प्रक्रिया में बजाय 'समाज' की जांच पड़ताल के, इस विषय ने खुद का ही एक असामाजिक चरित्र बना लिया। समाज से यह दूरी भूगोल के संदर्भ में और तीखी दिखती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि नदियों, पहाड़ों आदि की जगह और नाम जानना ही भूगोल हो। ऐसे में यह सवाल पूछना लाजमी हो जाता है कि एक ज्ञान अनुशासन के तौर पर भूगोल का अर्थ क्या है? और क्या ज्ञान अनुशासन की समझ भी वक्त के साथ बदलती रहती है? क्या एक ज्ञान अनुशासन के भीतर विषय के फलसफे के बारे में एक से ज्यादा दृष्टिकोण हो सकते हैं? और जब नए दृष्टिकोण बनें तो स्कूली विषयों और पाठ्यपुस्तकों में उनकी जगह कैसे बने? इस ज्ञान को बच्चों तक ऐसी भाषा और तरीके से कैसे पहुंचाया जाए कि वह नए तरीके से सोचें भी और इस ज्ञान को बनाने, उससे जूझने, सवाल खड़े करने और जवाब ढूंढने में उनकी अपनी भूमिका हो?

यमुना सनी द्वारा लिखित और एकलव्य द्वारा वर्ष 2014 में प्रकाशित ''*स्प्राउटः अ सोशल जियोग्राफी ऑफ राजस्थान*'' एक अनूठी किताब है जो इन सवालों के जवाब देती है और इस दिशा में बढ़ने की एक कामयाब कोशिश करती है। बरसों की मेहनत, अध्यापन के अनुभव और विद्यार्थियों के सहयोग से तैयार यह किताब भौगोलिक ज्ञान की नई व्याख्याओं में से एक व्याख्या- सामाजिक भूगोल के जरिये 'सामजिक' और 'स्थानिक' (spatial) के अंतर्संबंधों को समझने और दर्शाने की सफल कोशिश करती है। भूगोल की इस भारी-भरकम पुनर्व्याख्या को यह किताब सरल शब्दों में समझाती है, 'भूगोल लोगों के बारे में है। वह केवल पहाड़ों, नदियों और सीमाओं के बारे में नहीं है... इंसान अलग-अलग तरह की सामजिक जगहों (स्पेस) जैसे शहर, कस्बे, खेतीहर गांव, जंगल, मछुआरा बस्ती में रहते हैं... इसलिए जगहों के पास सुनाने को अलग-अलग कहानियां हैं... और जब हम समाज में हुए ऐतिहासिक बदलावों की बात करते हैं तो ऐसा नहीं कि वे भूगोल से परे थीं... इन विभिन्न जगहों और समाजों का आपस में संबंध है। स्थान और समय के संदर्भ में इन रिश्तों को समझना सामाजिक भूगोल का महत्वपूर्ण केंद्र बिंदु है' (पृष्ठ 5) और इस काम को अंजाम देने के लिए इस पुस्तक में नई तरह के नक्शों का इस्तेमाल किया गया है जो परम्परागत मानचित्रों के मापन और गणित का इस्तेमाल करने के साथ-साथ हाथ से बने चित्रों के जरिये अलग मूर्त श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

नौ अध्यायों में लिखी इस किताब का पहला अध्याय राजस्थान की कल्पना करता है। चित्रों, बातचीत, अवधारणाओं के द्वारा पुराने वक्त के राजस्थान और उसमें क्या बदलाव हुए, बखूबी उभारे गए हैं। किसी

स्प्राउटः अ सोशल जियोग्राफी ऑफ राजस्थान
(अंकुरः राजस्थान का सामाजिक भूगोल)
लेखिकाः यमुना सनी
प्रकाशकः एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, शिवाजी नगर, भोपाल-462016 मध्य प्रदेश
मूल्यः 255 रुपये, **पृष्ठ**-147

समय राजस्थान में हाथियों का होना क्या बताता है, अरावली पर्वत की ऊंचाई घट कैसे गई, जैसे सवाल सोचने पर मजबूर करते हैं।

दूसरा अध्याय राजस्थान के रेगिस्तान को शुष्कता, रेत के टीले, बंजर भूमि और चारागाह जैसी परंपरागत भौगोलिक अवधारणाओं को गतिशीलता के भूगोल, गांवों में तरह-तरह की चारागाह और उनमें आये परिवर्तनों, जमीन के जातिगत स्वामित्व के संदर्भ में समझाने की कोशिश करता है। इस प्रक्रिया में पाठक एक ओर निजी जमीन पर चराई की अनुमति के सामुदायिक नियम के बारे में जानते हैं तो दूसरी ओर पशु-पालन के तरीकों में आए बदलावों और नए समुदायों के इस व्यापार और पशु-पालन में आने की कहानी बयान होती है। पाठक जानते हैं कि किसी समूह का एक जगह छोड़ दूसरी जगह स्थानांतरित होना भी एक ऐतिहासिक-भौगोलिक प्रक्रिया है। समाज का कौनसा तबका स्थानांतरण के लिए किन संसाधनों का इस्तेमाल करता है और किस तरह परिवहन के नए साधनों का इस्तेमाल संसाधनों के पूर्व-स्वामित्व पर निर्भर है, एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी गूंज राजस्थान के संदर्भ से निकलकर दिल्ली की मेट्रो और पश्चिमी देशों में पलायन तक सुनाई देती है। यह अध्याय बताता है कि किस तरह चमड़े और नमक उद्योग एक साथ भूगोल (बबूल के पेड़ की बहुतायत), जातिगत काम, व्यापार और बाजार की व्यवस्थाओं और उनकी आपसी अंतःक्रिया के जरिये पनपे हैं।

तीसरा अध्याय मानचित्र और तालिकाओं की तुलना के द्वारा तापमान और आर्द्रता पर अपना ध्यान केंद्रित करता है। आम तौर पर किताबों, नीतियों, लोकप्रिय फिल्मों और चर्चा में आदिवासी समाज या तो एक ऐसे आदिम समूह के रूप में दर्शाया जाता है जो समय-काल में कहीं रुक गया है या फिर संग्रहालयी उपागम (museumisation paradigm) के तहत उनकी संस्कृति को दर्शाया जाता है। इस वर्चस्वशाली प्रतिनिधित्व के बरक्स चौथा अध्याय विभिन्न ऐतिहासिक और समसामयिक संदर्भों में आदिवासी समाज पर चर्चा करता है। एक ओर यह अध्याय भोजन-उत्पादन से लेकर राज्य-निर्माण के संदर्भों में आदिवासी समुदायों और उनके जीवन में आये बदलावों की बात करता है। तो दूसरी तरफ, भौगोलिक विस्थापन, खनन, संरक्षण, विकास बनाम विस्थापन के सवाल बातचीत के घेरे में आते हैं।

आम तौर पर भूगोल में शुष्कता और पानी की उपलब्धता की चर्चा मानव जीवन की अनुपस्थिति और प्रकृति-मानव अंतःक्रिया के बिना होती है। ऐसा लगता है, न तो लोगों ने अपनी समझदारी का इस्तेमाल कर अपने भूगोल के बारे में कोई ज्ञान पैदा किया है और न ही उनका सामाजिक संरचनाओं से कोई वास्ता है। पांचवा अध्याय इन मान्यताओं को कड़ी चुनौती देता है। वह जहां सूखे, अकाल, पानी तक पहुंच और जल-संग्रहण को लेकर राजस्थान में विकसित विभिन्न तरीकों (कुई, कुण्ड, बावड़ी, तालाब) से पाठकों को परिचित कराता है, वहीं पानी और सामाजिक संरचना के रिश्ते को जाति से लेकर वर्ल्ड बैंक तक की योजनाओं के संदर्भ में ढूंढता है।

अगर छठा अध्याय महलों, अदालतों और लोगों, उनके भूगोल, इतिहास और वर्तमान सत्ता और जीवन की चर्चा मांगणियार और बहरूपियों के संदर्भ में करता है तो सातवां अध्याय मीराबाई को केंद्र बिंदु बनाकर, राज्य-निर्माण, सत्ता/ताकत, जाति, जेंडर, इतिहास लेखन, गीत-संस्कृति, प्रतिरोध और कल्पना का ऐसा ताना-बाना बुनता है कि इतिहास और भूगोल की रस्सी मानो एक साथ बन और गुथ रही हों।

आठवें अध्याय में व्यापार, व्यापारी और शहरों की कहानी व्यापार मार्गों, खेती, सिंचाई, बनियों की बदलती भूमिका और भूगोल, आधुनिक राज्य के उदय, औद्योगिक विकास और स्लम के पड़ावों से गुजरती दिखाई पड़ती है। आखिरी

अध्याय भाषा, लोकसाहित्य और खान-पान के जरिये समानता तलाशते हुए, उन परंपरागत परिपाटियों और समुदायों की ओर लौटता है जो राजस्थान में मरुस्थलीकरण के बढ़ते खतरे के खिलाफ कारगर हो सकते हैं। एक ऐसी किताब जो इतिहास, वर्तमान, सामजिक संरचना, विचार, सत्ता और भूगोल को एक साथ पिरोती हो, वह किस तरह खत्म होगी? स्त्री-पुरुष अनुपात, सती, बाल-विवाह और बंधुआ मजदूरी के विवरण जाति, जेंडर और गरीबी के भूगोल पर चर्चा का सबब बनते हैं।

इस किताब को पढ़कर आप कुछ देर चुपचाप बैठ जाते हैं। यह चुप्पी इस किताब ने जिन चारदीवारियों को तोड़ दिया है, इसके अहसास से पैदा होती है। स्कूल और विश्वविद्यालय में बरसों समाज-विज्ञान पढ़ाने के बाद भी ऐसी किताब से पाला नहीं पड़ा था। इस किताब को पढ़कर आप न केवल क्षेत्रीय भूगोल, राजस्थान के बारे में नई समझ बनाते हैं बल्कि ऐसा लगता है कि समाज-विज्ञान की एक अंतरानुशासनिक (interdisciplinary) समझ विकसित हो गई हो। सेवापूर्व और सेवारत शिक्षण-प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भूगोल और समाज-विज्ञान पढ़ने के लिए जिन संसाधनों की चर्चा की जाती है, वे सब यहां इस्तेमाल किए गए हैं। इसलिए स्कूलों से लेकर कालेजों एवं विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभागों, भूगोल और समाज-विज्ञान विभागों के लिए यह एक बेशकीमती किताब है।

मेरे दस साला बेटे ने जब यह किताब उठाई तो वह इसमें बच्चों के चित्रों, बातचीत, नए तरह के मानचित्र देखकर बेहद आकर्षित हुआ। उसके और अपने अनुभव के बाद किताब में एक कमी नजर आती है। लगभग पूरी किताब में गरिष्ठ अवधारणाएं सरल भाषा में अपनी उपस्थिति दर्ज करती हैं। लेकिन कुछ जगह कठिन अवधारणाओं जैसे सामजिक बनावट (सोशल फार्मेशन), सामजिक बंधन (सोशल टाइज) का इस्तेमाल पढ़ने की गति को अवरुद्ध करते हैं। एक वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य और व्याख्या देने के प्रयासों में कई जगह वर्चस्वशाली बोध और दलीलों को बिलकुल दरकिनार कर दिया गया है। अपना परिप्रेक्ष्य बनाने के लिए पाठक- बच्चे और बड़े उनसे उलझें यह जरूरी है। लेकिन यह एक ऐसा काम है जो एक किताब अकेले नहीं कर सकती। इस किताब ने नई अंतर्दृष्टि देने का काम किया है और अगर आप चाहें कि बाकी राज्यों पर भी ऐसी किताबें बनें, तो यह सपने बुनें और उनको जमीन पर लाने का रास्ता इस किताब ने हमें दिखा दिया है। ◆

लेखक परिचयः '19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नागरिकशास्त्र की पाठ्यचर्या और नागरिक का विचार' पर शोध प्रबन्ध, 10 वर्ष तक विद्यालय में शिक्षण कार्य तथा एससीईआरटी, दिल्ली एवं एनसीईआरटी के साथ पाठ्यपुस्तक निर्माण में भागीदारी। आजकल अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली में अध्यापन कर रहे हैं।

शिक्षक का मूल्यांकनः एक पेचीदा प्रश्न

शिवरतन थानवी

शिक्षक की सही पहचान विद्यार्थी के सिवाय कोई नहीं कर सकता। शिक्षक के रूप में उनका असली चेहरा विद्यार्थी ही देखता है। उसका सबसे अधिक प्रभाव उसी पर पड़ता है। सबसे अधिक नफा-नुकसान शिक्षक के कारण यदि किसी का होता है तो विद्यार्थी का ही होता है। लेकिन इसका यदि कोई यह अर्थ निकालना चाहे कि तब तो अमेरिका की तरह शिक्षकों का मूल्यांकन विद्यार्थियों से ही करा लिया जाए तो वह भी गलत होगा। विद्यार्थी उसका मूल्यांकन आज नहीं कर सकता। मूल्यांकन करने की शक्ति उसे देते ही वह विद्यार्थी की भूमिका से हटकर दण्डनायक की भूमिका में चला जाएगा। उसकी दृष्टि वह रहेगी ही नहीं जो एक सच्चे विद्यार्थी की होती है।

मेरे एक शिक्षक थे। वे मुझे भूगोल पढ़ाया करते थे और गणित भी। सवाल गलत होता तो वे मेरी जांघ की चमड़ी अंगूठे और तर्जनी से पकड़ कर दबोचते-खींचते-उमेठते थे कि मेरी आंखों से टपटप आंसू गिरने लगते। कई दिन तक लाल-हरा निशान बना रहता उस स्थान पर। वे भूगोल पढ़ाते तब नक्शे में कोई केप कोमोरिन या न्यू फाउण्ड लैंड या टेंगानिका ढूंढ़कर नहीं बता पाता तो उनका रूलर चल पड़ता था। आप मुझसे या मेरे सहपाठियों से उस वक्त उनका मूल्यांकन करने को कहते तो हमारी क्या प्रतिक्रिया होती? यही न कि उन्हें तत्काल हटा दिया जाना चाहिए! लेकिन चालीस-पचास साल बाद आधुनिक शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों के एकदम विपरीत पाने के बावजूद उन्हें याद करता हूं तो श्रद्धावश मेरी आंखें नम हो जाती हैं। वे दिखावटी बिल्कुल नहीं थे। रंग गोरा, नाक तीखी, आंखें नीली-सी, लंबा कद, खुले गले का कोट, कभी टाई, कभी कालर खुली, कभी पैंट, तो कभी धोती भी। दांत चमकदार, सुंदर पंक्ति में, लेकिन हंसते पूरे कभी नहीं थे। मामूली मुस्कुराहट हर दम चेहरे पर रहती थी। दण्ड देते थे तब भी चेहरा सौम्य व स्निग्ध बना रहता था। मुस्कुराहट क्षण भर के लिए स्थगित हो जाती थी। सजा समाप्त। वही मुस्कुराहट शुरू। फिर वही प्रश्नों का सिलसिला मंद-मंद आवाज में। फिर वही राजस्थान के भूगोल और दुनिया के भूगोल की नई-नई बातें। राजपूताना, हिन्दुस्तान और दुनिया का भूगोल तब क्रमशः अलग-अलग कक्षाओं (मिडिल कक्षाओं) में पढ़ाया जाता था। उन्हें पढ़ाना अच्छा लगता था। हमें पढ़ना अच्छा लगता था। हम भूल करते तो वे माफ करते और हलकी-सी चिकौटी काट कर मुस्कुराते रहते। वे नाराज होते तो मुस्कुराहट स्थगित और चमड़ी उठा दी जाती, उमेठ दी जाती। सुख-दुःख सब साथ थे। जीवन में उनका कुल प्रभाव बाद में ज्ञात हुआ। वह आज भी साथ है।

लेकिन उनकी इस महानता, इस निष्ठा, इस स्निग्धता को कौन जान सकता था? किसने जाना? डींग मारना तो दूर, वे न तो कभी मुख्याध्यापक के साथ बैठते थे और न कभी विद्यार्थियों या अध्यापकों के बीच। उन्होंने हमें कितना रुलाया, कितना हंसाया और कितना अध्ययनशील बनाया - इसकी सूचना किसी को कैसे होगी?

दूसरे अध्यापक थे। कोई नियमित पीरियड नहीं। शारीरिक शिक्षक थे। नाटा कद, स्थूल शरीर, मोटा पेट, मूंछे छल्लेदार। फुटबाल खिलाते थे। कभी-कभी खाली पीरियड में हमें चुप रखने उन्हें भेज दिया जाता। कसीदेदार, लम्बे नाक वाली, रंगीन जूतियां पहने चर्र-मर्र करते आते। डरावनी आंखें थीं। सहम कर सभी चुप हो जाते। वे पसरकर कुर्सी में धंस जाते। हिंदी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी के कई पद उन्हें याद थे। बोलते, पूछते। कौन बताता अर्थ? पढ़ा ही किसने था। हंसते। ''बस यह भी नहीं जानते?'' और वे बुलंद आवाज में, किंतु धीमी गति से, अर्थ समझाते। कोई अंतर्कथा भी कह देते। हंस देते, सारी कक्षा को हंसा देते। कुछ तो लहजा, कुछ बातें ही ऐसी और कुछ रौब ऐसा कि उनका साथ देना जरूरी। सजा देने का ठेका भी इनका ही था। निष्ठापूर्वक आखिरी पीरियड के बाद मेंढ़क चाल, ऊठ-बैठ या डण्ड-डिप्स के द्वारा यथायोग्य सजा देना वे कभी नहीं भूलते। जिस रोज सजा मिलती उस रोज घर जाना मुश्किल हो जाता। लंगड़ाते हुए, कभी-कभी रोते हुए घर पहुंचते। हमारे और उनके संबंधों की पहचान हमारे सिवाय किसको हो सकती है? आज मैं जो कुछ करता हूं, जो कुछ सोचता हूं, जो कुछ लेखन करता हूं, उन सबमें उनका भी कोई हिस्सा जरूर है। सुख-दुःख सब साथ थे। कुल प्रभाव भी आज साथ है। सीना तानकर चलते थे। डींग मारने में भी आगे थे। कक्षा के बाहर कुछ भी होंगे, कक्षा के भीतर और सजा देते वक्त मैदान में, वे हमारे साथ जो व्यवहार करते थे उसकी बात मैं, केवल मैं ही, बता सकता हूं और वह यही कि वे एक बहुत अच्छे इंसान थे। हम उनसे उस वक्त प्रसन्न भी रहे और अप्रसन्न भी। आज उनका स्मरण करके मैं उनके प्रति आदर से भर जाता हूं। वे जो सजा देते थे उसका नाम भी सजा नहीं था, 'एक्स्ट्रा ड्रिल' था और आप समझ सकते हैं कि वह एक्स्ट्रा थी तो फिर एक्स्ट्रा ही होनी थी, असाधारण ही होनी थी। लेकिन हमें वह सजा कम याद है, उनका कक्षा में पसर कर मस्ती से साहित्यिक ज्ञान-चर्चा करना ज्यादा याद है। जब कभी कक्षा में पढ़ाते वक्त मैं ज्यादा गंभीर हुआ तो उनका स्मरण आते ही सहज हो गया और पाठ्यक्रम की लीक छोड़कर छंद, कविज्ञ, सोरठे, दोहे सुनाने लगा या निराला, अज्ञेय आदि के विविध रसास्वादन के काव्यांश सुना दिए। मैं जब पढ़ता था तब ये सब कोर्स में नहीं थे। राहूल और अज्ञेय के यात्रा-संस्मरणों की प्रशंसा करके पुस्तकालय में पड़ी उनकी पुस्तकों के नाम बता देता। विद्यार्थी टूट पड़ते। पढ़ते। यों मस्ती, आनन्द, सहजता और कुतूहल पैदा करने के इस तत्व के लिए उस शारीरिक शिक्षा के शिक्षक को याद कर लेना काफी है मेरे लिए।

शिक्षक का मूल्यांकन करने वाले सोचें कि कोई शिक्षाधिकारी या प्रधानाध्यापक या निरीक्षक किसी शिक्षक के बारे में, आज की पद्धति से, बाहर से कितना जान सकते हैं जबकि कक्षा के भीतर दिन भर शिक्षक के हर कार्य-कलाप को अंतर्मन से अनुभव करने वाला विद्यार्थी भी तत्काल कोई राय नहीं बना सकता, जान नहीं सकता। वह भी एक लम्बे अंतराल के बाद ही वास्तविकता के दर्शन कर पाता है। ◆

लेखक परिचयः शिविरा पत्रिका तथा नया शिक्षक/टीचर टुडे का 13 वर्ष संपादन। संयुक्त निदेशक (शिक्षा) पद से 1988 में सेवानिवृत्त। कुछ पुस्तकें लिखीं, कुछ का संपादन और अनुवाद किया। विशेष चर्चित पुस्तक 'आज की शिक्षा कल के सवाल'।

यह कैसा सम्मान है?

महेश कुमार शर्मा

अपने काम के सिलसिले में मुझे राजस्थान के उच्च प्राथमिक स्तर तक के सरकारी विद्यालयों में अक्सर जाने का अवसर मिलता रहता है। मैं जहां भी इन विद्यालयों में गया मुझे कुछ और मिला न मिला, एक चीज जरूर मिली या दिखी। वह यह है कि कक्षा में पहुंचते ही धीमे या फिर बहुत तेज आवाज में बच्चों का गुड मॉर्निंग सर, गुड मॉर्निंग दीदी या मैडम कहना। प्रदेश भर में जिन-जिन सरकारी विद्यालयों में जाने का अवसर मिला वहां यह कॉमन फीचर है। उल्लेखनीय है कि दोपहर में कहीं-कहीं गुड आफ्टर नून की गूंज, अनूगूंज भी इन कक्षाओं में सुनाई दे जाती है।

अब यह कहा जा सकता है कि इसमें क्या दिक्कत है या किसी को क्या आपत्ती है? इसमें न कोई दिक्कत है न आपत्ती। लेकिन यह कोई सहज व्यवहार नजर नहीं आता। उन विद्यालयों को इस पर ध्यान भी देना चाहिए और सोचना चाहिए कि कहीं यह सब रटे रटाए शब्दोच्चारण की रस्म अदायगी के तौर पर तो नहीं हो रहा है। या कुछ ऐसा तो बच्चों को नहीं कहा या समझा दिया गया कि जब भी कोई शिक्षक या बाहरी व्यक्ति आपकी कक्षा में प्रवेश करे बस खड़े हो जाओ और बोल दो गुड मॉर्निंग या गुड आफ्टर नून।

इस सिलसिले में एक राजकीय विद्यालय (कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय) में हुए अनुभव को यहां साझा करता हूं। इस विद्यालय में मैं सुबह दस बजे पहुंचा। अध्यापकों के साथ औपचारिक अभिवादन के बाद मैं विद्यालय के उस कक्ष की और बढ़ा जिधर से प्रार्थना की आवाज आ रही थी। मेरे साथ ही विद्यालय के एक शिक्षक भी उसी तरफ बढ़ चले। यहां आपको यह बताना उचित होगा कि शैक्षिक सहयोग उपलब्ध करवाने के सिलसिले में मुझे अक्सर इस तरह के विद्यालयों में जाना होता है। मैं प्रार्थना सत्र में शामिल हो गया। प्रार्थना सत्र के दौरान होने वाली गतिविधियों के पश्चात मैने लड़कियों को नमस्ते करते हुए अपना परिचय दिया। सभी बालिकाओं नें भी एक सुर में "गुड मॉर्निंग सर" बोला। लगभग डेढ़ घन्टे तक मैं इसी जगह पर सामूहिक रूप से इनके साथ काम करता रहा। इसके बाद उप समूह कार्य हेतु मैंने लड़कियों को अपनी-अपनी कक्षाओं में भेज दिया। थोड़ी देर बाद मैं एक कक्षा में इसलिए गया कि लड़कियों को कहीं कोई मदद की जरूरत तो नहीं है। जैसे ही मैं कक्षा में घुसा सभी लड़कियों ने एक साथ उठते हुए कहा, "गुड़ मॉर्निंग सर"। मैने कहा, "अरे! मैं तो सुबह से ही आपके साथ था, फिर अब क्यूं गुड मॉर्निंग कर रही हो?" वे कुछ नहीं बोलीं। मैंने कहा, "बैठ जाओ" तो वो सब बैठ गईं। ये कक्षा छह की लड़कियां थीं। मेरे मन में विचार आया कि यह सब नई हैं, इसी सत्र में आई हैं इसलिए ऐसा किया होगा लेकिन मन नहीं माना। मैं पास ही के दूसरे कमरे में गया जहां कक्षा सात की लड़कियां काम कर रही थीं। फिर वही हुआ। वैसे के वैसे लड़कियां उठीं और वैसे ही बोला, "गुड मॉर्निंग सर"। अब मैं परिकल्पना प्रयोग की प्रक्रिया में आ चुका था। अतः मैं एक और कक्ष में घुसा। फिर वही दोहराया गया। ज्यों का त्यों। मैंने हर एक कक्ष में लड़कियों से अचम्भा करते हुए कहा, "अरे! हम तो सुबह से ही साथ थे तो फिर से गुड मॉर्निंग क्यूं?",

''क्या ऐसा करना चाहिए?'', ''क्या आपको किसी ने कहा है ऐसा करने को?'' मेरे सवालों को एक-दो शिक्षक भी सुन रही थीं। वे भी कुछ नहीं बोलीं।

विद्यालयों में अक्सर उन्हीं छात्रों से पांच-सात बार इस तरह का औपचारिक अभिवादन मिल जाता है जिनसे आप कई बार मिल चुके हैं। यांत्रिक अभिवादन की इस बोझिल प्रक्रिया में सिवा समय की बरबादी के संभवतः कुछ नहीं होता। इस स्थिति पर बालिकाओं और शिक्षकों से बात भी की कि क्या हम इस पर कुछ सोच सकते है। क्यूं हम इन अतार्किक प्रक्रियाओं को दोहराते रहें! उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि यह तो सम्मान करने का तरीका है।

मगर किसका सम्मान है इसमें? शिक्षक का? यदि हां, तो बच्चों के सम्मान का क्या? इस पर सोचने का समय तो न हमारी व्यवस्था के पास है न उन व्यक्तियों के पास है जो दबाव से स्थापित इस तथाकथित सम्मान को पाकर गदगद हुए जाते हैं। खैर हालात और हकीकत अपनी-अपनी जगह है और विचार अपनी जगह।

कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय की शिक्षकों ने इस पर सोचा और शुरुआत इस तरह हुई कि हम यह कैसा सम्मान पा रहे हैं? एक ही स्थान पर एक ही व्यक्ति क्यूं बार-बार हमें नमस्कार, गुड मॉर्निंग आदि किए जा रहा है? क्या यह दिल से किया गया सम्मान है! अगर नहीं तो फिर क्या है? क्या कोई दबाव है? बच्चों पर दबाव या कहें उस वर्ग पर दबाव जो अपनी मर्जी, अपनी इच्छा से कुछ भी करने को आज़ाद नहीं है। यहां तक कि सम्मान करने को भी नहीं। इस प्रक्रिया का एक खतरा यह भी हो सकता है कि हम खुश होने, सम्मान करने की वास्तविक ज़रूरतों और भावनाओं को तो भूलते चले जाएं और कृत्रिमता को अपनी वास्तविकता बना लें।

एक शिक्षक ने संभवतः बहुत हिम्मत से कहा कि मैं इस पर लगातार सोचती रही हूं कि क्यूं हम एक ही जगह पर, एक ही दिन में, एक ही बालिका से बार-बार अभिवादन करवाते हैं, सुनते हैं। यह तो बड़ा अजीब है। मान लो यह सम्मान है तो हमारे घर में जब कोई बड़ा-बुजुर्ग, कोई मेहमान, कोई आगन्तुक या किसी भी उम्र का कोई व्यक्ति आता है तो क्यूं नहीं हम उसको बार-बार सलाम, नमस्ते करते! मैंने कहा, ''करके देख लीजिए।'' हो सकता है आने वाला आप पर हंसे और फिर आप भी हंसें। या आने वाला इस व्यवहार को स्वयं का अपमान समझे और संभावना यह भी है कि वह व्यक्ति आपके घर या जहां भी आप हैं वहां से दूर, बाहर जाकर आपके बारे में कहे, उफ! बड़े अजीब सनकी लोग हैं!

फिर शिक्षा में यह कौनसा अनिवार्य अभ्यास है जो बच्चों को बिना सोचे समझे सिखाया जा रहा है। सम्मान का रट्टा लगवाया जा रहा है। मैंने और भी कई शिक्षकों से जानने की कोशिश की कि हर बार जब भी कोई शिक्षक कक्षा में प्रवेश करता/करती है तो क्या पूरी कक्षा के बच्चे उठकर गुड मार्निंग (अधिकांशतः गुड मॉर्निंग), गुड आफ्टर नून या नमस्ते करते हैं? शिक्षकों नें जवाब तो किसी उपलब्धि से उपजे संतोष को अपने चेहरे पर लाते हुए दिया और कहा, ''हां! करते हैं ना। बच्चे खड़े होकर, हर बार अपने शिक्षक को नमस्कार करते हैं।'' मेरे अगले सवाल, कि कोई बार-बार आपको नमस्कार करे तो क्या ऐसा करना ठीक है? पूछने पर संतोष की पपड़ी में थोड़ी दरार दिखाई दी। सोचने की प्रारंभिक अवस्था में यह संभव है कि आपमें कुछ दरके, कुछ टूटने-तड़कने से पूर्व का खिंचाव या तनाव बनने लगे। शिक्षकों ने कहा, ''हां! ठीक है।''

मैंने मन में सोचा, ''ठीक तो नहीं है'', लेकिन स्कूलों में तो यही होता है। मैंने जानने की कोशिशि की क्या कोई सरकारी आदेश या सर्कुलर इस हेतु निकला है कि जब भी शिक्षक कक्षा में प्रवेश करे तब सारे बच्चे एक साथ खड़े होकर अभिवादन करें। पता चला नहीं, ऐसा तो कोई आदेश नहीं है। तो सवाल यह है कि यह सब क्यूं हो रहा है? बिना किसी सरकारी, लिखित, ऊपरी आदेश के?

ऐसे सवालों पर चर्चा जब भी आगे बढ़ती है, ये ही वाक्यांश प्रमुखता से सुनाई देते रहे हैं, चलता आ रहा है, हम भी उठते थे, हमने तो इस पर कभी सोचा नहीं है, इससे बच्चे सम्मान करना सीखते हैं। यहां भी ऐसा ही हुआ। इस आखरी वाक्य पर फिर सवाल उठता है कि क्या सम्मान सिखाने की या सम्मान की औपचारिकता करने में दक्ष बना देने की भी कोई यांत्रिक प्रक्रिया है? सम्मान सिखाने की वह कौनसी प्रक्रिया है जो यह बताती है कि बच्चों को बार-बार गुड मॉर्निंग, गुड आफ्टर नून या नमस्ते कहकर सम्मान करना चाहिए और उसका अभ्यास हमारी कक्षाओं मे निरन्तर जारी है। क्या इसके बरक्स बच्चों का सम्मान करने की भी कोई लिखित, अलिखित परंपरा या प्रक्रिया है हमारी तमाम सभ्यता में?

जब बच्चों से बात की तब शुरुआती सवाल था, ''आपकी कक्षा में जब कोई शिक्षक आता है या आती है तब आप क्या करते हैं?'' बच्चों ने बताया कि सब खड़े होकर गुड मार्निंग बोलते हैं। ''जब यही शिक्षक एक पीरियड पढ़ाने के बाद, अगले किसी पीरियड में फिर से आपकी कक्षा में आए तो?'' ''फिर से खड़े हो कर नमस्ते करते हैं।'' ''तो क्या एक ही शिक्षक एक ही दिन में तीन-चार या और ज्यादा बार आपकी कक्षा में आए तो उतनी ही बार खड़े हो कर नमस्ते करते हैं?'' बच्चों का जवाब हां में पाकर पूछा, ''अच्छा क्यों करते है बार-बार नमस्ते, गुड मार्निंग या कुछ और?'' बच्चे मुस्कुराते हुए कहते हैं, ''पता नहीं लेकिन हम तो ऐसे ही करते हैं।''

मजेदार बात यह थी कि जितने भी बच्चों (लगभग दो सौ बच्चों) से मैंने यह सब सवाल किए उनमें से कोई भी अपने घर-परिवार, आस-पास, अपनी भाषा, बोली में अपने किसी बड़े-बुजुर्ग का सम्मान इस तरह नहीं करता था। बच्चों ने इस यांत्रिक प्रक्रिया के कुछ राज और अपनी होशियारियों को भी बताया। एक बात सभी बच्चों ने कहा कि ऐसे बार-बार एक ही आदमी को नमस्कार कहना और बार-बार खड़े होना उन्हें अच्छा तो बिल्कुल नहीं लगता। बच्चों ने अपने से अलग कुछ बच्चों का नाम बताते हुए कहा कि कुछ बच्चे तो उठते भी नहीं हैं। कुछ बच्चे यह देखने का प्रयास करते हैं कि यदि शिक्षक उनकी तरफ देख नहीं रहे हैं तो बैठा भी रहा जा सकता है। कुछ तो उठने का उपक्रम भर करते हैं। कुछ बच्चों ने तो यह भी कहा कि हर कक्षा का कोई पसंदीदा और कोई नापसंद शिक्षक होता है। यह नापसंद शिक्षक वह होता है जो बच्चों को डांटता है, डराता है और बच्चों का सम्मान तो बिल्कुल नहीं करता है। पता चला कि शिक्षा का अधिकार कानून तो बन गया है लेकिन कुछ शिक्षक आज भी बच्चों पर हाथ छोड़ने तक से बाज नहीं आते। हम खुद सोच सकते हैं कि ऐसे शिक्षक को कौन बच्चा प्यार, सम्मान देना चाहेगा। कौन खड़ा होना चाहेगा। यह तो प्रथा चली आ रही है कि कक्षा में प्रवेश करते ही शिक्षक को सम्मान का एक झोंका तो स्पर्श करे ही करे, भले औपचारिक ही सही, बेमन ही सही।

मैंने मन में विचार किया कि बच्चों को इतनी आज़ादी तो हो ही कि वो अपने पसंदीदा शिक्षक के लिए ही खड़े हों। यहां नापसंद शिक्षक को अपमानित करवाने का मानस नहीं है, वरन यह महसूस करवाने का है कि शिक्षक अपने व्यवहार और प्रक्रियाओं पर भूल सुधार कर सके। अच्छे खासे सेल्फ रियलाइजेशन की प्रक्रिया को जन्म दे सकती है, यह थोड़ी सी आजादी। अब जबकि सारी कक्षा, सारे बच्चे एक ही दिन में दसियों बार खड़े हो-हो कर सम्मान का सैल्यूट करेंगे तो शिक्षक भी कैसे सोच पाएगा कि उससे कहां भूल चूक हो रही है। अपने शिक्षण कार्य में, अपने तरीकों में, अपनी भाषा और व्यवहार में। बच्चों से पेश आने के तरीकों में।

बिना सोचे-समझे, पढ़ते-लिखते चले जाने और बिना भावनात्मक आवेग और लगाव के सम्मान करने-कराने की यह आदत शायद हमारे स्कूलों में चल रही कक्षाओं से ही जन्म लेती है। हां, इस आलेख को यहां तक पढ़ कर यह विचार आ सकता है कि तो क्या शिक्षक के कक्षा में आने पर बच्चों को खड़ा नहीं होना चाहिए? तो क्या बच्चों को अपने शिक्षकों को गुड मॉर्निंग, नमस्कार आदि नहीं करना चाहिए? क्या शिक्षकों को एक बार भी नमस्कार नहीं करना चाहिए? मेरा निजी विचार जानना चाहते हैं तो है, ''हां, सोचा जा सकता है''। हम या शायद हम में से कोई भी सम्मान विरोधी तो नहीं होगा। लेकिन सम्मान की यांत्रिकता, बोझिलता और रट्टामार प्रथा के पक्ष में भी कोई नहीं होगा।

शिक्षकों ने भी जब इस मुद्दे पर बात की तो यही विचार रखा कि क्यूं ना सिर्फ इतना भर ही औपचारिक रूप से तय किया जाए कि एक दिन में सिर्फ एक बार ही जब शिक्षक, बच्चों का पहली बार सामना हो तब ही अभिवादन कर शिक्षकों के प्रति सम्मान प्रकट कर दिया जाए। प्रार्थना, असेंबली में अधिकांश बच्चे और समय पर विद्यालय पहुंच सकने वाले अधिकांश शिक्षक एक दूसरे से रूबरू होते हैं। इसी मौके पर क्यों नहीं यह सम्मान अदा कर दिया जाए! क्या ऐसा होना संभव है? हो तो क्यूं नहीं सकता। सोचें तो क्या कुछ नहीं हो जाता! या फिर इतना भर किया जा सकता है कि कोई शिक्षक कक्षा-कक्ष में जब पहली बार आए, सिर्फ तब ही अभिवादन कर लिया जाए। इसके बाद यदि वही शिक्षक दूसरी, तीसरी या फिर अगली बार आए तो बच्चों को उठने की अनिवार्यता से मुक्त रखा जाए।

अब एक नया सवाल सामने खड़ा था। जब शिक्षक के अगली बार कक्षा में आने पर बच्चे नहीं उठें, नमस्कार नहीं करें तब शिक्षक क्या करे? बच्चे क्या करें? हां, पुरानी आदतें बदलने में थोड़ा समय लगता है। थोड़ा जोर आता है और थोड़ा दिल भी दुख सकता है। यहां बंधी-बंधाई प्रक्रियाओं से बाहर नए तरीके से कुछ करने और रचने का अवसर पैदा किया जा सकता है। इसमें शिक्षक को थोड़ी मेहनत करने की, थोड़ा जागरूक रहने की आवश्यकता है, बस! क्यों ना कक्षा में अंदर आता हुआ शिक्षक बच्चों से कहे, कैसे हो? क्या चल रहा है? और यह भी कह कर शुरू कर सकता है कि चलिए आगे बढ़ते हैं! या फिर वो अपने कक्षा कार्य की जैसी योजना बनाकर आया है सीधे उस पर ही कार्य करने लग जाए। मुझे तो यह भी यकीन है कि कार्य की जरूरत और कार्य के क्रियान्वयन में ही शिक्षक और बच्चे इतना डूब जाएंगे कि उन्हें किसी बाहरी सम्मान की जरूरत ही महसूस नहीं होगी। जो शिक्षक डूबकर काम करते हैं वो शिक्षक हमेशा सम्मान से ही याद किए जाते हैं। ◆

लेखक परिचयः लगभग 20 वर्षों से आरंभिक शिक्षा के क्षेत्र में, मुख्य रूप से बालिका शिक्षा को लेकर काम कर रहे हैं और वर्तमान में संधान, जयपुर में कार्यरत हैं।

'शिक्षा विमर्श' द्वि-मासिक पत्रिका
स्वामित्व एवं अन्य सूचनाओं से संबंधित विवरण

घोषणा
फार्म-4 (नियम-8)

1. प्रकाशन का स्थान	: जयपुर
2. प्रकाशन अवधि	: द्वि-मासिक
3. मुद्रक का नाम	: सुश्री रीना दास
नागरिकता	: भारतीय
पता	: दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
4. प्रकाशक का नाम	: सुश्री रीना दास
नागरिकता	: भारतीय
पता	: दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
5. संपादक का नाम	: प्रमोद पाठक
नागरिकता	: भारतीय
पता	: 27 ए, एकता पथ, श्रीजी नगर, दुर्गापुरा, जयपुर-302018 राजस्थान
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	: दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
7. मुद्रणालय का नाम	: श्री राधे एन्टरप्राइजेज
पता	: एफ-23-सी 5, इंडस्ट्रीयल एरिया मालवीया नगर, जयपुर-302017 राजस्थान

मैं रीना दास एतद् द्वारा घोषणा करती हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

4 मार्च, 2016

रीना दास
(प्रकाशक)

शिक्षा का अधिकार एवं केन्द्रीय बजट

(2016-17)

नेसार अहमद

वित्त मंत्री अरुण जेटली ने केन्द्रीय बजट 2016-17 पेश करते हुए कहा कि भारत सरकार के लिये ''अब शिक्षा की गुणवत्ता अगला बड़ा कदम होने वाला है।'' परन्तु इस बजट में शिक्षा के लिए भारत सरकार द्वारा किए गए आंवटन में ऐसी कोई प्राथमिकता दिखाई नहीं पड़ी। विद्यालय शिक्षा तथा साक्षरता विभाग का कुल बजट 2016-17 के लिए 43554 करोड़ रुपये रखा गया है जो वर्ष 2015-16 (संशोधित अनुमान) से मात्र 3.24 प्रतिशत अधिक है तथा वर्ष 2012-13 से 2014-15 की अवधि के दौरान हुए आंवटन से कम ही है। यही नहीं भारत सरकार के कुल खर्च के प्रतिशत के रूप में भी मानव संसाधन विकास मंत्रालय का बजट वर्ष 2012-13 के 4.7 प्रतिशत से घट कर 2016-17 में 3.7 प्रतिशत रह गया है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय का बजट (करोड़ रुपये)

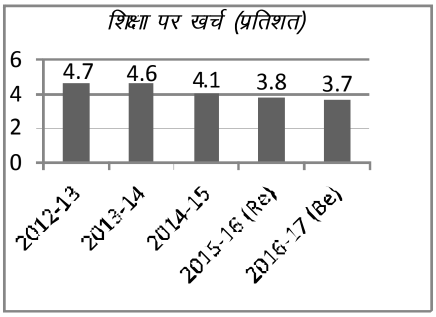

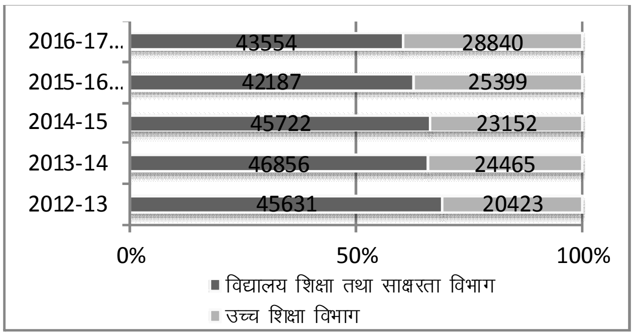

शिक्षा का अधिकार एवं बजट

देश में शिक्षा के अधिकार को लागू करने के लिए सर्वशिक्षा अभियान मुख्य योजना है। इस योजना के लिए किए गए आंवटन में पिछले वर्ष की अपेक्षा मात्र 2.2 प्रतिशत की वृद्धि की गई है। इस वर्ष (2016-17) भारत सरकार ने सर्वशिक्षा अभियान के लिए 22,500 करोड़ रुपये आवंटित किए हैं जो पिछले वर्ष 2015-16 (संशोधित अनुमान) में 22,015 करोड़ रुपये था। अब बदले हुए पैटर्न में सर्वशिक्षा अभियान में केन्द्र का हिस्सा 60 प्रतिशत है तथा 40 प्रतिशत हिस्सा राज्यों (पूर्वोत्तर तथा हिमालयी राज्यों को छोड़कर) को देना होगा। लेकिन उपलब्ध आंकड़े बताते हैं कि देश के मात्र 8 प्रतिशत स्कूल शिक्षा के अधिकार कानून के मानदंडों पर खरे उतरते हैं। ऐसे में इस छोटे से बजट से शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करना मुश्किल है।

शिक्षा के क्षेत्र में चुनिंदा योजनाओं के लिए बजटीय आवंटन (रुपये करोड़ में)

योजनाएं	2014-15	2015-16(BE)	2015-16(RE)	2016-17(BE)
सर्व शिक्षा अभियान	24,097	22,000	22,015	22,500
राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान	3,398	3,565	3,565	3,700
शिक्षक प्रशिक्षण और साक्षर भारत	1,158	1,397	1,203	879
मदरसा और अल्पसंख्यकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए योजना	119	376	336	120
केन्द्रीय विद्यालय संगठन	3,243	3,278	3,278	3,795
नवोदय विद्यालय संगठन	2,013	2,061	2,285	2,471
मिड डे मिल	10,523	9,236	9,236	9,700

जहां तक गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा का सवाल है, जिसे वित्त मंत्री ने आने वाले वर्षों में सरकार का मुख्य कदम बताया है, उसके लिए भी राज्य सरकारें मुख्य रूप से सर्वशिक्षा अभियान पर ही निर्भर हैं। भारत सरकार के बजट में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए वर्ष 2016-17 में 510 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया है जो वर्ष 2015-16 में 558 करोड़ रुपये था।

बालिका शिक्षा

पिछले दो वर्षों में सरकार ने बालिकाओं के लिए बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, प्रगति, उड़ान, अकेली बच्ची के लिए स्वामी विवेकानन्द छात्रवृत्ती आदि की घोषणा की है। लेकिन इस बजट में बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ योजना के लिए 100 करोड़ रुपये छोड़कर किसी भी अन्य योजना के लिये स्पष्ट आंवटन नहीं किया गया है।

प्राथमिक शिक्षा के लिए भारत सरकार की अन्य योजनाएं

इस बजट में वित्त मंत्री ने 62 नए नवोदय विद्यालय खोलने का प्रस्ताव भी रखा है, किन्तु नवोदय विद्यालय संगठन के बजट में मात्र 200 करोड़ रुपये की वृद्धि की गई है। जबकि केन्द्रीय विद्यालय संगठन के बजट में करीब 500 करोड़ रुपये की बढ़ोतरी हुई है। मध्याह्न भोजन योजना के बजट में भी 500 करोड़ रुपये से कम की बढ़ोतरी हुई है तथा 2016-17 का मध्याह्न भोजन योजना का कुल बजट वर्ष 2014-15 से कम रखा गया है।

कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि भारत सरकार प्राथमिक शिक्षा का अधिकतर भार राज्य सरकारों के कंधों पर डालना चाहती है। ऐसा चौदहवें वित्त आयोग के बाद केन्द्रीय करों में राज्य सरकारों के बढ़े हिस्से के मद्देनजर किया जा रहा है। परन्तु हम जानते हैं कि इसके साथ ही केन्द्र सरकार ने राज्यों को दिए जा रहे अनुदान तथा अन्य सहायता में कटौती भी कर दी है। ऐसे में राज्य सरकारें शिक्षा के अधिकार को पूरी तरह से लागू करने में सक्षम होती हैं या नहीं यह एक गंभीर प्रश्न है। ◆

संदर्भः सभी आंकड़े सीबीजीए, नई दिल्ली के प्रकाशन कन्नेक्टिंग द डॉट्स एन एनालिसिस ऑफ यूनियन बजट 2016-17 से लिए गए हैं।

लेखक परिचयः जयपुर स्थित बजट अध्ययन राजस्थान केन्द्र (बार्क) के समन्वयक हैं।

कितना कुछ सिखाते हैं बच्चे

दिलिप चुघ

यूं चलते-चलते अपनी ही बुनियाद में झांक लेना अपने-आपमें एक अच्छी चिंतनशील प्रक्रिया (Reflective Process) हो सकती है। मेरे लिए यह कभी-कभी पेशेवराना जरूरत होती है तो कभी-कभी अपने आधार के एहसास को अपने में जिन्दा रखने की जुगत। ऐसा ही कुछ होता है जब कभी अपने राजकीय विद्यालयों के शिक्षक साथियों से किन्ही विचारों (जैसे- सभी बच्चों में सीखने की जन्मजात क्षमताएं होती हैं) को लेकर जद्दोजहद चल रही होती है तो उनके बरक्स अपनी ही बुनियाद को झकझोरना पड़ता है, याद करना पड़ता है उसके बनने तक की प्रक्रिया और उसमे लगे जोड़-तोड़, ईंट-पत्थर और गारे को। मैं भी इसी शिक्षा व्यवस्था के परंपरागत ढांचे की उपज हूं इसके बावजूद एक बड़ा फर्क महसूस होता है कि कैसे मैं यह सब नई-नई बातें (बिना दण्ड भय के कक्षा, मातृभाषा का उपयोग, कक्षा-कक्ष में समृद्ध माहौल) मानने लगा। क्यों एक अलग स्तर की स्वीकार्यता और विश्वास बनता सा चला गया मुझमें, कि आज मुझे घंटों-घंटों की जद्दोजहद और चर्चाओं में थकान और बोरियत महसूस नहीं होती। इस लेख में उसके ही एक हिस्से भर की बात है। बहुत कुछ हुआ है इस आधार के बनने में। 45 दिन की पहली कार्यशाला और फिर शुरुआती काम में बच्चों के साथ एक नई व्यवस्था को स्थापित करने में हुआ संघर्ष, फिर उसके बाद की कई कार्यशालाएं, बैठकें, कुछ खास तरह की किताबों का अध्ययन, अलग-अलग तरह के प्रोजेक्ट और उसमें कई दोस्तों के साथ विमर्श। याद करने पर ये सभी कुछ एक फिल्म की तरह मन के स्क्रीन पर चलता-सा जाता है। हालंकि इस बुनियाद के हर ईंट-पत्थर और गारे का अपना महत्व है। लेकिन इन सबमें जो खास है वो कुछ वाकये हैं जो बच्चों के साथ काम के दौरान घटित हुए, जिन्होंने इन विचारों और मेरी समझ के बीच पुल का काम किया। इनके साथ मेरे संबंध और गहरे बना दिए। मेरे इस लेख में ऐसे ही कुछ वाकयों का जिक्र है।

''गोली खाकर आती हूं''

एक बार मैं बड़ी तन्मयता से बच्चों के बीच उनके साथ एक गीत 'हम लोग हैं ऐसे दीवाने' गा रहा था। बच्चे भी तन्मय होकर गीत की पंक्तियां दोहरा रहे थे। समूह में 1 से लेकर 5 तक के स्तर के बच्चे थे। इस गीत में एक पंक्ति है 'सच्चाई कि खातिर दुनिया में बापू ने गोली भी खायी थी' यह पंक्ति मेरे द्वारा गाते ही एक बच्ची ने मुझे बीच में ही टोका और कहा ''सर जी मुझे बुखार हो रहा है मैं बस गोली खाकर अभी आती हूं'' मैं अवाक! उसे देखता रह गया और वह उठकर चली गई। कैसे इस बच्ची ने संबंध जोड़ा होगा इस गीत के साथ? क्या मायने होंगे इस गीत के इस बच्ची के लिए? ऐसे कई सवाल उस दिन यह वाकया मेरे लिए छोड़ गया।

‘डीर्राम (ड्रम) है’

एक बार बच्चों के बीच फ्लैश कार्ड फैलाकर उनके माध्यम से शब्दों की पहचान करवा रहा था। इन फ्लैश कार्डों में एक तरफ चित्र था और दूसरी ओर उनका नाम लिखा था। गमले का कार्ड एक बच्ची (उम्र 5-6 वर्ष) को दिखाकर मैंने पूछा ''बता ये क्या है?'' बच्ची बड़े गौर से उसे देखती रही। थोडा कार्ड को हाथ में लेकर इधर-उधर भी किया। फिर मुझे बड़े ही सहानुभूति वाले भाव से देखा (जैसे वह सोच रही हो ''बड़े प्यार से पूछ रहा है कुछ तो सोचकर बताना ही होगा'') मैं इतने समय में मन ही मन तय कर चुका था कि यह नहीं पहचान पाएगी। लेकिन वह बोली। वह बोली कि ''डीर्राम (ड्रम) है'' यह सुनकर एक बार तो मैं थोड़ा चौंका और मैंने फिर से उस कार्ड को ध्यान से देखा। वो सच में मुझे भी ड्रम जैसा दिखाई देने लगा। कितनी कोशिश की होगी उस छोटी-सी बच्ची ने! अपने सन्दर्भ में मौजूद कितनी चीजों से उस एक चित्र को मिलान करके देखा होगा मन ही मन? क्योंकि अपने ‘सर’ के सवाल का जवाब खोजकर देना ही था! मुझमें हिम्मत नही थी कि मैं उसके जवाब को गलत ठहरा पाता। मैंने धीरे से वह कार्ड टोकरी में सरका दिया बिना कोई प्रतिक्रिया किए।

‘सर जी मोपे तो है ही नाय’

एक दिन बच्चों के साथ समूह (वैकल्पिक स्कूल के बच्चों का समूह) के नियमों पर चर्चा कर रहा था। क्योंकि मेरा वैकल्पिक स्कूल कुछ दिन पहले ही शुरू हुआ था। एक बेहतर व्यवस्था को बनाने के लिए यही सीखा था कि सामूहिक रूप से नियमों पर बच्चों के साथ बातचीत की जाए और एक दिन बातचीत करते-करते कि क्या-क्या नियम होने चाहिए कुछ नियम बन चुके थे। जैसे, सभी समय से स्कूल आयेंगे, एक दूसरे की बात सुनेंगे आदि। अब आगे चप्पल कहां और कैसे खोली जाए, इस पर बातचीत होने लगी। इस बातचीत में रेखा और नजराना दोनों बच्चियों का ध्यान नहीं था। मैंने ध्यान दिलाने की जुगत में नजराना से पूछा कि चप्पलों के बारे में क्या नियम बना है जरा बताना। बच्ची ने बड़े इत्मीनान से कहा ''सर जी मोपे तो है ही नाय'' (मेरे पास तो चप्पल है ही नहीं)! नियमों की ऐसी धज्जियां उड़ते और वह भी इतनी मासूमियत से, मैंने पहली बार महसूस की।

''पासा''

गणित के कुछ खेलों के लिए मैंने एक कायर्शाला में कागज मोड़कर उससे पासा बनाना सीखा था। मैंने वापस आते ही बच्चों के लिए वह पासा बनाया। चूंकि पासे की रचना प्रक्रिया को बच्चे देख नही पाए तो जब पहली बार उन्होंने वो पासा देखा तो सहज ही कुछ बच्चों ने पूछा ''सर जी इसके अंदर क्या है?'' मैंने कहा भई अंदर कुछ भी नहीं है।

मैंने तो इसे मोटे से कागज को मोड़ कर बनाया है। किसी दिन तुमको भी बनाना सिखाऊंगा। इस समय तक बच्चों की छुट्टी हो चुकी थी। मैं आने वाले कल की तैयारी के काम निपटाने में लगा था। बच्चे कुछ देर पासा लेकर उलट-पलट कर देखते रहे। मैं लिखा-पढ़ी के काम को निपटा कर वापस आया तो वे बच्चे जा चुके थे। मैं बाकी सामान को इकट्ठा कर बक्से में रखने लगा तो देखा एक ओर से पासा कुछ यूं खुला हुआ था जैसे रणक्षेत्र में उसे वीरगति प्राप्त हुई हो। ''आखिर देख लिया गया कि तुम्हारे अंदर क्या था।'' मैंने मुस्कुराते हुए पासे से कहा और बक्से को ताला लगा दिया।

ये तो केवल कुछ झलकियां मात्र हैं। और भी बहुत से छोटे-छोटे, लम्बे-लम्बे किस्से हैं। जिन्हें याद कर फिर से ''सोच (चिन्तन)'' में गोते लगाने का मन होता है और मुस्कुराने का भी। इन सब किस्सों के सन्दर्भ में अहम यह भी है कि बच्चों को मौका मिला था अपनी बात कहने का, सवाल पूछने का, गलतियां करने का। अगर इतना भर हो जाता है और ऐसे रिश्ते बच्चों के साथ बन जाते हैं तो मेरे हिसाब से आधा शिक्षण-शास्त्र तो ऐसे ही समझ में आ जाता है। या बच्चे ही हमें समझने पर मजबूर कर देते हैं। मैंने पाया है कि बच्चों की प्रतिक्रियाएं, गलतियां, सवाल, इच्छाएं, आदि पर शिक्षक अगर थोडा ठहर कर विचार करे तो वह बहुत से सिद्धांतो/मान्यताओं के साथ उनके तार जोड़

सकता है। और कुछ नए आयाम भी उन्हें दे सकता है। जैसे कि पहले वाले और दूसरे वाले वाक्यों में देखें तो साफ पता चलता है कि बच्चे स्कूल में मिलने वाले किसी नए अनुभव की व्याख्या अपने संदर्भ में ही करते है। उन्हें हम गलत कहकर नकार नहीं सकते।

तो बुनियाद वाली बात पर लौटते हुए मुझे उक्त अनुभव के कुछ निष्कर्ष यूं बनते से दिखते हैं।

शिक्षणशास्त्र को समझने की दृष्टि से बच्चों के साथ खास माहौल (जिसमें उन्हें अपनी बात कहने, सवाल पूछने और गलतियां करने के मौके मिले) में बिताया गया समय और उस पर चिन्तन-मनन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि प्रशिक्षण, कार्यशालाएं, शिक्षण शास्त्रीय किताबों का अध्ययन और विमर्श।

हमारे समाज और शिक्षा तंत्र में बच्चों तथा बचपन के प्रति बन चुकी धारणाओं पर पुनर्विचार करने की जरूरत व्यापक फलक पर है। बच्चे अपने-आप में वयस्कों के लिए किसी किताब या संपूर्ण व्यक्तित्व से कम नहीं होते हैं। उनके साथ जितने गहरे में हम उतरते हैं उतने ही गहरे रिफ्लेक्शन हमें मिलते हैं। जबकि रटंत कक्षा-कक्ष प्रक्रियाएं, भय-तनावयुक्त माहौल और परीक्षाओं के नियंत्रण से भरी शिक्षा व्यवस्था और हमारे सामाजिक ताने-बाने की वजह से उनकी अपनी दुनिया के चित्र हम तक पहुंच ही नहीं पाते। ◆

लेखक परिचयः साहित्य में एम.ए. के बाद लगभग 14 वर्षों से विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों में कार्य। संप्रतिः अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन, टोंक में कार्यरत हैं।

विज्ञापन

parag
AN INITIATIVE OF TATA TRUSTS

लाइब्रेरी एडुकेटर सर्टिफिकेट कोर्स 2016 (हिन्दी)

पराग का लाइब्रेरी एडुकेटर कोर्स अपनी तरह का पहला कार्यक्रम है। यह पुस्तकालय कर्मियों, शिक्षकों व उन सभी लोगों के व्यावसायिक विकास के लिए है जो बच्चों व किताबों के साथ काम करते हैं। यह कोर्स प्रतिभागियों को सक्रिय एवं रचनात्मक पुस्तकालयों की कल्पना व संचालन में समर्थ बनाएगा, साथ ही यह बच्चों के साथ प्रभावी लाइब्रेरी सत्र डिजाइन करने के उनके कौशलों को विकसित करेगा।

लाइब्रेरी एडुकेटर सर्टिफिकेट कोर्स 2016 के लिए पराग आवेदन आमंत्रित कर रहा है।

- इस कोर्स की अवधि 7 माह है और यह 23 मई 2016 से शुरू होगा
- इस कोर्स में संपर्क (face-to-face) एवं स्व-अध्ययन (Self-study) के घटक होंगे
- 3 संपर्क घटकों की कुल अवधि 12 दिन (5+4+3) होगी
- स्व-अध्ययन अवधि में लेख, असाइनमेंट्स और एक फील्ड-प्रोजेक्ट शामिल होंगे
- इस कोर्स का माध्यम हिन्दी है
- कोर्स के दौरान प्रतिभागियों को सहजकर्ताओं का लगातार सहयोग मिलेगा
- ऑनलाइन फोरम के जरिए शिक्षकों व प्रतिभागियों के साथ नियमित चर्चाएँ होंगी
- बच्चों के बेहतरीन चुनिंदा साहित्य के अध्ययन का मौका मिलेगा

महत्त्वपूर्ण तारीखें:

कोर्स की शुरुआत : **23 मई 2016**

फॉर्म जमा कराने की अंतिम तिथि : **10 अप्रैल 2016**

कोर्स प्रोस्पेक्टस व आवेदन फॉर्म यहाँ से डाउनलोड करें : www.libraryeducators.in

अधिक जानकारी के लिए हमें कृपया इस पते पर लिखें : parag@tatatrusts.org

Azim Premji University

CALL FOR APPLICATION

Third Summer School in Philosophy of Education

Philosophy of Education for Teachers and Teacher Educators

Azim Premji University Organizes the Third Summer School in Philosophy of Education from June 6th to 17th, 2016. This summer School proposes to engage with questions like – How should PoE curriculum be structured? How should PoE be taught? How is PoE related to other disciplines like Sociology of Education – that deal with distinct issues equally important for a reflective practitioner?

Applications are invited from pre-service and in-service teacher educators, curriculum developers and those interested in these roles. Applicants could be from state institutions like the SCERT and DIETs, people teaching or developing curriculum for B.Ed., M.Ed. and similar formal programs in other institutions. Preference will be given to people familiar with Philosophy and Philosophy of Education.

The Summer School will accommodate 30 participants. Candidates who desire to participate must send the following along with their application:

(i) Curriculum Vitae that includes the candidate's contact information (address, email, telephone number)
(ii) Brief statement of Purpose (not exceeding 800 -1000 words)
(iii) A reflective note of around 2000 words on a particular issue in education with philosophical implications. People who are familiar with OR are engaged in teaching or developing PoE curriculum are encouraged to write specifically on PoE, teaching PoE or thoughts on PoE curriculum for teachers.

The Last Date for Submission of Applications is **April 1, 2016**.

Selected candidates will be intimated via email by **April 10, 2016**.

Participants will be provided travel reimbursement to the extent of 3-tier AC trainfare from their place of residence, boarding and lodging near Azim Premji University and commute to and from the University to place of lodging for the duration of the programme.

For all communications, please write to poe.summer.school@apu.edu.in.
More details available at www.azimpremjiuniversity.edu.in/poe

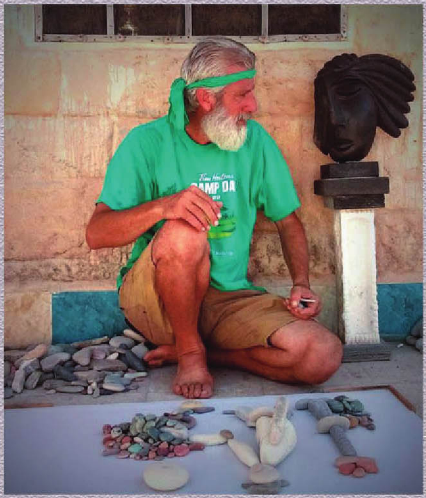

R.N.I.No.RAJHIN/1999/359 शिक्षा विमर्श

शिक्षा विमर्श के नवम्बर-दिसम्बर, 2015 अंक के आवरण पर सीरियन कलाकार निजार अली बद्र के एक इंस्टालेशन को छापा गया था जो युद्ध से जूझते सीरियन लोगों के पलायन को अभिव्यक्त कर रहा था। इधर-उधर कलाकार के बारे में जानने की कोशिश की गई मगर ज्यादा जानकारियां नहीं मिल सकीं। उनके फेसबुक पृष्ठ पर उनसे संपर्क साधा और कुछ जानकारियां वहीं से मिलीं।

निजार अली बद्र सीरिया के प्रतिभाशाली मूर्तिकार हैं। युद्ध की विभीषिका से जूझ रहे देश में रहते हुए अपनी कला के माध्यम से टिप्पणियां करते हैं, साथ ही जीवन के अन्य पक्षों को भी अपनी कला की अभिव्यक्ति बनाते हैं। बच्चों को भी उन्होंने अपनी कला का विषय बनाया है। एक इंस्टालेशन में वे एक मां को अपनी दो बच्चियों को स्कूल भेजते दर्शाते हैं और साथ में टिप्पणी करते हैं, ''उन महान माँओं को सलाम जो अपने बच्चों को स्कूल भेजती हैं।''

निजार सीरिया के लटकिया शहर में रहते हैं, यह एक बन्दरगाह है। इस बन्दरगाह के आस-पास मिलने वाले रंग-बिरंगे कंकड़-पत्थरों से वे एक अद्भुत दुनिया का सृजन करते हैं।

निजार अली बद्र साहब की कला-दुनिया व उनके जज्बे को सलाम!

अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बेंगलूरु के सहयोग से प्रकाशित

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा श्री राधे एन्टरप्राइजेज, एफ-23-सी 5, मालवीय नगर, जयपुर-302017 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित